मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 60 ● वर्ष 7, अंक 5 ● जुलाई 2017 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति–जनता के लिए बची-खुची स्वास्थ्य सुविधाएँ भी बाज़ार के मगरमच्छों के हवाले 7

मुस्लिम आबादी बढ़ने का मिथक 11

जीएसटी : कॉरपोरेट पे करम, जनता पे सितम का एक और औज़ार 16

बेहिसाब बढ़ती महँगाई यानी ग़रीबों के ख़िलाफ़ सरकार का लुटेरा युद्ध

यह सरकार की जनविरोधी, कॉरपोरेट-परस्त नीतियों का नतीजा है

सम्पादक मण्डल

'बहुत हुई महँगाई की मार, अबकी बार मोदी सरकार' के लुभावने नारे से बेहिसाब महँगाई की मार झेल रही जनता के एक हिस्से को भरमाकर उसके वोट बटोरने के बाद भाजपा की अपनी महँगाई तो दूर हो गयी, मगर आम लोगों पर महँगी कीमतों का कहर टूट पड़ा है। मोदी सरकार के आने के बाद ही रेल, गैस, पेट्रोल-डीज़ल की कीमतों में भारी बढ़ोत्तरी हुई। दालों की कीमतें 60-70 रुपये से बढ़कर सीधे 200 रुपये तक पहुँच गयीं और उसके महीनों बाद नीचे उतरी भीं तो 120-130 पर अटकी हुई हैं। खाने-पीने और बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों की महँगाई बेरोकटोक बढ़ी है। इस महँगाई ने देश की तीन-चौथाई से भी अधिक आबादी के सामने जीने का संकट पैदा कर दिया है। सब्ज़ियों से लेकर अनाज और दूध तक के बेहिसाब बढ़ते दामों ने मेहनतकश जनता के साथ-साथ निम्न मध्यवर्गीय आबादी तक के लिए पेटभर पौष्टिक खाना खा पाना दूभर बना दिया है। रेल-बस के भाड़े, अस्पताल की फ़ीस-दवाएँ, स्कूल-कॉलेज के खर्चे, बिजली-पानी, मकानों के भाड़े—हर चीज़ में जैसे आग लगी हुई है। ऊपर से जीएसटी ने आम लोगों के इस्तेमाल की अधिकांश चीज़ों पर टैक्स का बोझ बढ़ा दिया है। मोदी सरकार के आने के बाद सर्विस टैक्स 12.5 प्रतिशत से बढ़ाकर 18 प्रतिशत किया जा चुका है।

मगर इतनी बड़ी आबादी के लिए जीने का संकट पैदा करने वाली महँगाई अब अख़बारों और टीवी चैनलों की सुर्ख़ियों से बाहर हो चुकी है। दरअसल उच्च मध्य और खाते-पीते मध्य वर्ग की आमदनी में पिछले कुछ समय से लगातार जो बढ़ोत्तरी हो रही है उसके कारण उन पर इस महँगाई का ज़्यादा असर नहीं होता। दूसरे, इस वर्ग की आमदनी का एक छोटा-सा हिस्सा ही खाने-पीने की चीज़ों पर खर्च होता है। इसकी आमदनी का बड़ा हिस्सा मनोरंजन, कपड़ों, कार-बाइक, टीवी-ओवन-फ्रिज जैसे सामानों आदि पर खर्च होता है। मगर इस महँगाई ने ग़रीबों के लिए तो जीना दूभर बना दिया है।

इस महँगाई ने देश की भारी आबादी के लिए हालात कितने मुश्किल कर दिये हैं इसका अन्दाज़ा लगाने के लिए बस इस तथ्य को याद कर लेना ज़रूरी है कि देश की लगभग तीन-चौथाई आबादी प्रति व्यक्ति सिर्फ़ 30 से 40 रुपये रोज़ाना पर गुज़ारा करती है। देश के करीब 50 करोड़ असंगठित मज़दूरों पर महँगाई की मार सबसे बुरी तरह पड़ रही है। शहरों में करोड़ों मज़दूर उद्योगों में 10-10, 12-12 घण्टे काम करके 6000 से 8000 रुपये महीना कमा पाते हैं। इसमें से भी मालिक बात-बात पर पैसे काट लेता है। लगभग एक तिहाई से लेकर आधी मज़दूरी मकान के किराये, बिजली, बस भाड़े आदि में चली जाती है। बाकी लगभग सारी कमाई किसी तरह अपने और परिवार का पेट भरने में चली जा रही है। दालें तो ग़रीबों के भोजन से पहले ही ग़ायब हो चुकी थीं अब आलू-प्याज़-टमाटर-साग जैसी सब्ज़ियाँ भी खा पाना उनके लिए मुश्किल होता जा रहा है।

कुछ वर्ष पहले गुजरात के पाँच ज़िलों में ग़रीबों के परिवारों के बीच एक संस्था के सर्वेक्षण में पाया गया था कि महँगाई के कारण परिवार की आमदनी का 74 प्रतिशत खाने-पीने पर खर्च हो जाता है। पहले जो परिवार सुबह नाश्ता, फिर दिन और रात का खाना खाते थे उनमें से 60 प्रतिशत अब दिन में सिर्फ दो बार खाते हैं। 57 प्रतिशत लोग बहुत ज़रूरी होने पर ही डॉक्टर के पास जाते हैं। 40 प्रतिशत परिवारों में चाय

(पेज 8 पर जारी)

आधार पर सरकारी ज़बर्दस्ती की वजह क्या है?

मुकेश असीम

मोदी सरकार द्वारा आधार के दायरे को व्यापक बनाने का कार्य निरन्तर जारी है। 2009 में जब तत्कालीन यूपीए सरकार द्वारा आधार कार्ड बनाने की योजना शुरू की गयी थी, तो कहा गया था कि इसमें पंजीकरण करवाना स्वैच्छिक होगा। इसका उपयोग शंका की स्थिति में किसी व्यक्ति की सही पहचान को सुनिश्चित करना होगा। उस वक़्त इसका मक़सद बताया गया था, लाभकारी कार्यक्रमों को ज़रूरतमन्द ग़रीबों-वंचितों तक पहुँचाना, छद्म लाभ लेने वालों को अलग करना, भ्रष्टाचार को कम करना, सरकारी योजनाओं को पारदर्शी और कुशल बनाना, आदि। जनता को यह समझाने की कोशिश की गयी कि सरकारी योजनाओं का लाभ उठाने के लिए हमें अपने अधिकारों और निजता से कुछ समझौता तो करना ही पड़ेगा और हर व्यक्ति की पहचान और हर जानकारी सरकार के पास होने से वह ग़रीबों के फ़ायदे के लिए न सिर्फ़ सही नीतियाँ बना पायेगी, बल्कि उनका फ़ायदा भी सही व्यक्तियों तक पहुँचा पायेगी, जिससे ग़रीबी मिटाने में सफलता मिलेगी। लेकिन इतने सालों में इसके लागू होने का तजुर्बा क्या बता रहा है?

हालाँकि कहने के लिए यह अभी भी स्वैच्छिक है, लेकिन न सिर्फ़ सरकारी योजनाओं का लाभ प्राप्त करने बल्कि दैनन्दिन जीवन के ज़रूरी काम-काज के लिए भी इसे आवश्यक बनाया जा रहा है - चाहे स्कूली पढ़ाई हो, बैंक खाता हो, राशन या मोबाइल लेना हो, अस्पताल में इलाज से लेकर स्कूल में बच्चों को मिलने वाला दोपहर का भोजन, वेतन से पीएफ़-पेंशन प्राप्त करना, कुछ भी काम करना हो वर्तमान सरकार एक-एक कर प्रत्येक कार्य के लिए आधार का होना अनिवार्य कर रही है, ताकि आधार बनवाये बग़ैर किसी व्यक्ति का रोज़मर्रा का साधारण जीवन ही नामुमकिन और उसकी स्थिति समाज से बहिष्कृत जैसी हो जाये। इस सबसे यह तो स्पष्ट ही है कि आधार का असली मक़सद जनता तक पारदर्शिता और कुशलता से नागरिक सुविधाएँ पहुँचाना नहीं है। तो फिर मक़सद क्या है?

ग़रीबों का राशन-पेंशन बन्द कर सरकारी बचत

सरकार का कहना है कि आधार के द्वारा व्यक्तियों की सही पहचान के द्वारा सरकारी योजनाओं में होने वाली चोरी और भ्रष्टाचार को कम किया गया है, जिससे इनके ख़र्च में भारी बचत हुई है, जिसे विकास कार्य में लगाया जायेगा। इस बचत का कोई विस्तृत विवरण आज तक कहीं उपलब्ध नहीं है, लेकिन आधार अर्थॉरिटी के मुखिया ए बी पाण्डे ने 12 जुलाई को इण्डियन एक्सप्रेस में विश्व बैंक के एक अध्ययन के हवाले से आधार द्वारा फ़र्ज़ी-नक़ली सुविधा प्राप्त करने वालों को समाप्त कर 56 हज़ार करोड़ रुपये की बचत का दावा किया है। वैसे इस रिपोर्ट के मूल को पढ़ने से पता चलता है कि जिन योजनाओं में यह बचत बतायी गयी है, उन पर कुल ख़र्च ही इतना है! लेकिन बचत की रक़म जितनी भी हो उससे ज़्यादा ज़रूरी यह विश्लेषण है कि यह बचत किस तरह और कहाँ से हो रही है।

इस बचत के स्रोत का एक उदाहरण 11 जुलाई के द हिन्दू में प्रकाशित रिपोर्ट से मिलता है। इसके अनुसार कर्नाटक के प्रोविडेण्ट फ़ण्ड विभाग से पेंशन पाने वाले 5 लाख में से 30% अर्थात डेढ़ लाख पेंशनरों को 2 महीने से उनकी पेंशन प्राप्त नहीं हुई है क्योंकि उसको आधार से जोड़ दिया गया है। अभी पेंशनरों द्वारा साल

(पेज 9 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

मैं काम करते-करते परेशान हो गया, क्योंकि मेहनत करने के बावजूद पैसा नहीं बच पाता

मैं बिहार का रहने वाला हूँ। 2010 में मजबूरी के कारण पहली बार अपना गाँव छोड़कर दिल्ली आना पड़ा। मुझे दुनियादारी के बारे में पता नहीं था। कुछ दिन काम की तलाश में दिल्ली में जगह-जगह घूमे और अन्त में वज़ीरपुर में झुग्गी में रहने लगे। गाँव के मुक़ाबले झुग्गी में रहना बिल्कुल अलग था, झुग्गी में आठ-बाय-आठ कमरा था। पानी की मारामारी अलग से थी। यहीं मुझे स्टील प्लाण्ट में काम भी मिल गया। यहाँ तेज़ाब का काम होता था जिसमें स्टील की चपटी पत्तियों को तेज़ाब में डालकर साफ़ किया जाता है। तेज़ाब का धुआँ लगातार साँस में घुलता रहता है और काम करते हुए अन्दर से गला कटता हुआ महसूस होता है। तेज़ाब कहीं गिर जाये तो अलग समस्या होती है। पिछले हफ़्ते तेज़ाब में काम करते हुए मेरी आँख में तेज़ाब गिर गया था। आँख जाते-जाते बची है। मालिक और मुनीम की गालियाँ अलग से सुननी पड़ती हैं। बैठने का समय नहीं, आराम करने का समय नहीं, अगर रुके तो मालिक गाली देता है या काम देता है। मैं काम करते-करते परेशान हो गया, क्योंकि मेहनत करने के बावजूद पैसा नहीं बच पाता था। मैंने तय किया कि किसी बेहतर जगह काम करूँगा। स्टील के काम की जानकारी थी तो सोचा कि इस काम में हाथ आज़माऊँगा। वज़ीरपुर से अलग भिवाड़ी और गुजरात में काम की बात सुनी थी। काम करते-करते फ़ैक्टरी में सुना था कि राजस्थान के भिवाड़ी में मालिक पैसा अच्छा देता है और ऊपर से सुरक्षा का भी इन्तज़ाम है। वज़ीरपुर से बेहतर जगह लगी तो अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर मैं भिवाड़ी चला गया। पर यहाँ भी हालत वज़ीरपुर जैसे ही थी। वही तेज़ाब का प्लाण्ट और मालिक और मुनीम की गालियाँ। पर लगा कि जब हर जगह हालत एक जैसी है तो इधर-उधर भटकने में कोई लाभ नहीं है। मैंने भिवाड़ी में ही काम करने का फ़ैसला किया। ज़िन्दगी के कुछ साल भिवाड़ी में बीत गये। पर अब यहाँ ज़िन्दगी नर्क लगने लगी थी, तो सामान उठाकर मैं गुड़गाँव आ गया। यहाँ भी हालात वैसे ही थे। पर एक रविवार की शाम को पार्क में कुछ यूनियन वालों को मीटिंग करते देखा। वहाँ मुझे बिगुल अख़बार मिला। एक यूनियन वाले ने बताया कि बिगुल का काम वज़ीरपुर में भी है और वहाँ स्टील मज़दूरों की यूनियन भी है। मैंने तुरन्त वज़ीरपुर जाने का फ़ैसला किया। यहाँ 2014 में हड़ताल हुई थी, पर अभी मज़दूरों की एकता बिखरी हुई है। पर अब मैं यूनियन की मीटिंग में आता हूँ और फ़ैक्टरी में बिगुल लेकर जाता हूँ, ताकि इस हालात के बारे में सबको समझा सकूँ।

अमित मोदी, वज़ीरपुर

मालिक का भाई मरे या कोई और, इसे कमाने से मतलब है।

दिल्ली के वज़ीरपुर इलाक़े में पिछले 2-3 महीने से मन्दी चल रही है। नोटबन्दी के बाद भी इस तरह से काम मन्दा हो गया था। अख़बार में पढ़ा है - जीएसटी लागू हुआ है। मालिक कह रहे हैं कि वे बर्बाद हो रहे हैं। कुछ मालिकों ने अपनी फ़ैक्टरियाँ बन्द कर दी हैं। जो लोग गाँव गये थे, वे गाँव में ही रुक क्योंकि यहाँ काम नहीं है और मालिक किसी भी बात पर हिसाब दे देता है। पर फ़ैक्टरियाँ चल भी रही हैं। पहले 12 घण्टे काम होता था तो अब 8 घण्टे काम होता है। मालिक तो अब भी कमा रहा है। मज़दूर की तो नौकरी जाती है पर मालिक का मुनाफ़ा चलता रहता है। मेरी फ़ैक्टरी के मालिक पर जीएसटी का ज़्यादा असर नहीं लगता है। ये तो ख़ूब 12 घण्टे हम जुतवाता है। यह बिल्कुल पैसे का भूखा है। पिछले हफ़्ते मालिक के भाई की मौत हो गयी थी। इलाक़े के सारे मालिक फ़ैक्टरी पर इकट्ठा थे। मालिक ने फ़ैक्टरी बन्द करने को कहा और हमने राहत की साँस ली पर उसने कहा कि कहीं मत जाना फ़ैक्टरी में ही रहना। एक घण्टे के भीतर ही मालिक कुछ पीले रंग का द्रव्य लेकर आया और उसे फ़ैक्टरी के गेट पर छिड़का और हमें बोला फटाफट काम शुरू करो। मालिक का भाई मरे या कोई और, इसे कमाने से मतलब है। हम मज़दूरों को तो ये जानवर समझता है। वज़ीरपुर में लम्बे समय से मन्दी चल रही है पर बर्बाद तो हम मज़दूर ही होते हैं। मालिक कोठी में रहता है, गाडी में आता है और रोज़ फ़ैक्टरी के अन्दर बनाये हुए एसी कमरे में बैठकर दारु पीता रहता है। पिछले 10 सालों में फ़ैक्टरी से इन लोगों ने ज़बरदस्त मुनाफ़ा कमाया है। पर जब मज़दूर अपना हक़ माँगता है तो मन्दी का रोना रोता है। मोदी हो या केजरीवाल सब मालिकों के ही सगे हैं। इनकी जमात को बस पैसा दीखता है।

विष्णु, वज़ीरपुर, ठण्डा रोला मज़दूर

जब तक मानव-मानव का सुखभाग नहीं सम होगा
शमित न होगा कोलाहल संघर्ष नहीं कम होगा।

— रामधारी सिंह 'दिनकर'

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!
इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: bigulakhbar@gmail.com

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण: Mazdoor Bigul
खाता संख्या: 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता: वार्षिक: 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:
फ़ोन: 0522-4108495, 8853093555, 9721481546
ईमेल: bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक: www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - रु. 5/- वार्षिक - रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - रु. 2000/-

दिल्ली आँगनवाड़ी की महिलाओं की हड़ताल जारी है !

पिछले महीने की 27 तारीख़ से दिल्ली की आँगनवाड़ी की महिलाएँ अपनी यूनियन 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' के नेतृत्व में हड़ताल पर हैं। समाचार लिखे जाने तक उनका धरना और क्रमिक भूख हड़ताल मुख्यमन्त्री अरविन्द केजरीवाल के आवास पर जारी है, लेकिन अपने को 'आम आदमी' कहने वाली केजरीवाल सरकार के कान पर जूँ तक नहीं रेंग रही है। हड़ताल में हज़ारों की संख्या में वर्कर्स और हेल्पर्स शामिल हो रहे हैं।

हड़ताल की पूर्वपीठिका

जैसा कि पहले भी 2015 में बिगुल के पन्नों पर ख़बर आ चुकी है कि हड़ताल जीतने के बाद मुख्यमन्त्री केजरीवाल ने स्वयं एक लिखित समझौता किया था, जिसमें उन्होंने हमारी सारी माँगों को क़बूल किया था। लेकिन दो साल बीत जाने के बाद भी अभी तक सरकार ने हमारी मुख्य माँगों को लागू नहीं किया। पिछले दो सालों से महिलाओं ने यूनियन के साथ कभी दिल्ली सचिवालय में तो कभी केजरीवाल के आवास पर प्रदर्शन किया। लेकिन जब कोई सुनवाई नहीं हुई तो उन्होंने फ़ैसला लिया कि आने वाले नगर निगम के चुनाव में आँगनवाड़ी की महिलाएँ 'आम आदमी पार्टी ' का पूर्ण बहिष्कार करेंगी।

आम आदमी पार्टी का नगर निगम चुनाव में बुरी तरह से हारने का एक बड़ा कारण आँगनवाड़ी की वर्कर्स और हेल्पर्स के द्वारा किया गया बहिष्कार भी था। चुनाव के बाद हार से बौखलायी केजरीवाल सरकार ने आँगनवाड़ी की ग़रीब महिलाओं से बदला निकालना शुरू कर दिया।

दिल्ली के उपमुख्यमन्त्री मनीष सिसोदिया जिसके पास शिक्षा और महिला बाल विकास विभाग भी है, ने दिल्ली के खस्ताहाल पड़े सरकारी स्कूलों का कभी निरीक्षण नहीं किया लेकिन अलग-अलग आँगनवाड़ी में जाकर निरीक्षण करना शुरू कर दिया। आँगनवाड़ी के खस्ता हालत जैसेकि खाना ख़राब आना, बच्चों का न आना, रजिस्टर में फ़र्ज़ी एण्ट्री होना, इत्यादि के लिए ग़रीब कार्यकर्ताओं और सहायिकाओं को ज़िम्मेदार पाया और तीन कार्यकर्ताओं को 'टर्मिनेट' करने का फ़रमान सुना दिया। जबकि आँगनवाड़ी में खाने में गड़बड़ी के लिए वे एनजीओ ज़िम्मेदार हैं, जिन्हें वहाँ के खाने का टेण्डर मिलता है। पिछले दिनों एक अंग्रेज़ी दैनिक 'इण्डियन एक्सप्रेस' में एक ख़बर छपी थी कि जिन एनजीओ को दिल्ली के सरकारी स्कूलों में मध्यान्तर भोजन के लिए ब्लैकलिस्ट कर दिया गया था, वे एनजीओ अब भी आँगनवाड़ी में खाना देने का काम कर रहे हैं। और इन एनजीओ का रिश्ता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर 'आम आदमी पार्टी' से जुड़े एनजीओ 'कबीर' और 'परिवर्तन' से है! ज़ाहिर है कि अपने ही लोगों द्वारा किये गये घपले-घोटालों के लिए मनीष सिसोदिया आँगनवाड़ी की ग़रीब महिलाओं को ज़िम्मेदार ठहरा रहा है और उन्हें दिल्ली की जनता के सामने बदनाम भी कर रहा है। दूसरी ओर सुपरवाइज़र और सीडीपीओ इन महिलाओं पर दबाव डालकर रजिस्टर में फ़र्ज़ी नाम डलवाती हैं, लेकिन किसी सुपरवाइज़र या सीडीपीओ पर आज तक किसी प्रकार की कोई कार्रवाई नहीं हुई है। सरकार एक तरफ़ आँगनवाड़ी को जानबूझकर ख़राब कर रही है और दूसरी तरफ़ प्लेस्कूलों (यहाँ भी अपने ही लोगों को) को लाइसेंस दे रही है और मनीष सिसोदिया इन सबका ज़िम्मेदार आँगनवाड़ी की ग़रीब वर्कर्स और हेल्पर्स को ठहरा रहा है। ये इनका असली चरित्र है।

सरकार की इस बदले की कार्रवाई की वजह से आँगनवाड़ी की महिलाओं में ज़बरदस्त गुस्सा भरा हुआ था। और वे आन्दोलन की राह पर चलने का मन बना रही थी।

10 जून को 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' ने आगे की योजना के लिए एक बैठक बुलाई और फ़ैसला लिया कि आगामी 24 जून को दिल्ली सचिवालय पर 1 दिन का चेतावनी प्रदर्शन किया जायेगा। 24 जून को क़रीब हज़ार की संख्या में महिलाएँ दिल्ली सचिवालय पहुँचीं। भारी संख्या में महिलाओं को देखकर सरकार घबरा गयी और मनीष सिसोदिया के ओएसडी ने प्रतिनिधिमण्डल को बातचीत के लिए बुलाया। ओएसडी ने यूनियन को 27 जून को मनीष सिसोदिया से बातचीत का निमन्त्रण दिया।

हड़ताल की शुरुआत

27 जून को जब भारी संख्या में महिलाएँ मनीष सिसोदिया के बँगले (हालाँकि ये आम आदमी है और चुनाव से पहले इन्हें बँगले, गाड़ी, सुरक्षा आदि नहीं चाहिए थी) पर पहुँचीं तो पहले पुलिस ने बैरीकेड लगा दिया और अन्दर आने से ही मना कर दिया। लेकिन जब महिलाओं का दबाव बढ़ता गया तो पाँच महिलाओं को यूनियन की संचालक शिवानी के साथ बात करने के लिए अन्दर जाने दिया गया। लेकिन सिसोदिया बात करने से ज़्यादा महिलाओं को डराने के मूड में था। जब उसे मालूम चला कि महिलाओं के साथ यूनियन की साथी शिवानी भी आयी हैं तो उसने बात करने से ही मना कर दिया। साफ़ है कि यह सिसोदिया का ग़ैरजनवादी और असंवैधानिक रवैया था।

मनीष सिसोदिया की इस दग़ाबाज़ी से महिलाओं का रोष और बढ़ गया और अब ये केजरीवाल और सिसोदिया से आर-पार की लड़ाई के लिए तैयार थीं। और तब यूनियन ने 30 जून को दिल्ली सचिवालय पर विराट जुटान का आह्वान किया।

30 जून को होने वाले प्रदर्शन को लेकर केजरीवाल सरकार में ज़बरदस्त खलबली मची हुई थी। तरह-तरह की दलाल यूनियन, धार्मिक कट्टरवादी संगठन व आम आदमी पार्टी के पिछलग्गुओं ने प्रदर्शन को समर्थन देने के बहाने आन्दोलन को ख़त्म करने की कोशिश की। लेकिन यूनियन ने इस तरह के किसी भी संगठन का समर्थन लेने से साफ़ इनकार कर दिया। 30 जून को लगभग दस हज़ार की भारी संख्या में महिलाओं ने प्रदर्शन में हिस्सेदारी की। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई जनसैलाब उमड़ गया हो। प्रदर्शन में यूनियन ने यह फ़ैसला किया कि मुख्यमन्त्री स्वयं आकर हमसे मिलकर हमारी सारी माँगों को पूरा करें, वरना हम यहीं डटे रहेंगे और रिंग रोड जाम करेंगे। लेकिन जब मुख्यमन्त्री या सरकार का कोई प्रतिनिधि मिलने को तैयार नहीं हुआ तो महिलाओं ने रिंग रोड को चार घण्टे तक जाम रखा। उसके बाद यूनियन ने आम सहमति से यह फ़ैसला लिया कि आगामी तीन जुलाई से मुख्यमन्त्री अरविन्द केजरीवाल के बँगले पर अनिश्चितकालीन हड़ताल की जायेगी। तब से उनकी हड़ताल जारी है और 6 जुलाई से वे क्रमिक भूख हड़ताल पर हैं।

हड़ताल तोड़ने के लिए दलाल यूनियन केजरीवाल के साथ!

जब आँगनवाड़ी की महिलाओं की यह जुझारू हड़ताल पूरी दिल्ली में फैल गयी और लगभग सभी आँगनवाड़ियों में काम पूरी तरह ठप्प हो गया तब से तरह-तरह के बिचौलिये, दलाल और मज़दूरों के साथ ग़द्दारी करने का रिकॉर्ड बना चुकी दलाल यूनियनें अपने काम में लग गयीं और केजरीवाल का साथ देने लगी।

इन दलाल यूनियन में सबसे अग्रणी नाम सीटू की कमला वाली यूनियन का है। सीटू, जिनका इतिहास मज़दूरों के साथ ग़द्दारी का है, बंगाल से लेकर केरल तक जिनकी माता चुनावी पार्टी माकपा मज़दूरों पर गोलियाँ बरसा चुकी है, जो गुण्डों से पिटवाने और मालिकों का खुल्ला साथ देने के लिए बदनाम है, वह भला दिल्ली में आँगनवाड़ी की महिलाओं से ग़द्दारी करने और उनकी हड़ताल तुड़वाने में पीछे कैसे रह सकती थी! कमला जो पहले भी 2015 में हड़ताल तुड़वाने के लिए आयी थी, लेकिन महिलाओं ने उसे भगा दिया था, अब वह तरह-तरह की चालों के ज़रिये यह काम करने लगी। पहले वह यूनियन को समर्थन देने के बहाने हड़ताल में घुसने की कोशिश कर रही थी, लेकिन उसकी यह चाल जब क़ामयाब नहीं हुई तो वह यूनियन के साथियों के खिलाफ़ कुत्सा-प्रचार करने में जुट गयी। इससे भी जब काम नहीं बना तो कमला और सीटू ने अपना नाम बदल कर 'स्वतन्त्र आँगनवाड़ी कर्मचारी और सहायिका संघ' के नाम से पर्चा निकाला और महिलाओं में भ्रम फैलाने का काम किया और 10 जुलाई को मनीष सिसोदिया के आवास को घेरने का आह्वान किया। जबकि यूनियन पहले ही मनीष सिसोदिया से उसके घर पर मुलाक़ात करने गयी थी, पर वहाँ बात न बन पाने के कारण ही हड़ताल का निर्णय लिया गया था। ज़ाहिर है कि कमला की यह चाल हड़ताल तोड़ने की ही थी।

लेकिन कमला और सीटू की ग़द्दारी का पर्दाफ़ाश आँगनवाड़ी की महिलाओं ने दमदार तरीक़े से किया। सिसोदिया के घर पर कमला अपनी 3 चमचियों के साथ ही पहुँची और उसका प्रदर्शन पूरी तरह से 'फ़्लॉप शो' साबित हुआ।

दूसरा एक दलाल रामकरण है, जिसने 2015 में ही आँगनवाड़ी के साथ शुरू हुए आशा वर्कर्स के आन्दोलन को डुबाने का काम किया था। इस हड़ताल की शुरुआत में रामकरण खुलकर केजरीवाल सरकार और आम आदमी पार्टी की पैरवी कर रहा था और महिलाओं के सामने बड़ी-बड़ी डींगें हाँक रहा था कि अगर वे 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' को छोड़कर उसके साथ आ जायें तो वह उनका केजरीवाल के साथ समझौता करवा देगा और सारी माँगें मनवा देगा। अब वह यह झूठ फैला रहा है कि शिवानी की वजह से ही माँगें पूरी नहीं हो रही हैं। रामकरण जिसने आशा वर्कर्स के साथ ग़द्दारी की और अब वही काम वह आँगनवाड़ी की महिलाओं के साथ करने की कोशिश कर रहा था, लेकिन महिलाओं ने उसे माक़ूल जबाब दिया।

सोचने वाली बात तो यह है कि एक तरफ़ केजरीवाल और सिसोदिया हमारी यूनियन से बात करने को तैयार नहीं होते हैं, जिनके साथ आँगनवाड़ी की महिलाएँ हैं, लेकिन उन सारी दलाल यूनियनों से बात करने को राज़ी है जिनके साथ कोई नहीं है। ऊपर से यह "केजरीवाल और सिसोदिया गैंग" झूठी अफ़वाहें फैलाने में माहिर है। हद तो तब हो गयी जब सिसोदिया ने एक फ़र्ज़ी यूनियन 'दिल्ली आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स एसोसिएशन', जिसमें सुपरवाइज़र और सीडीपीओ शामिल थे, के साथ मिलकर 'मानदेय बढाने की' और हड़ताल ख़त्म होने की घोषणा भी कर दी। इसी से इस दोमुँही केजरीवाल सरकार और आम आदमी पार्टी के चरित्र का पता चलता है।

केन्द्र में भाजपा की फ़ासीवादी मोदी सरकार तो खुल्ले तौर पर मज़दूरों की विरोधी है ही लेकिन दिल्ली का ये नटवरलाल जो कि छोटे बनिये-व्यापारी का प्रतिनिधित्व करता है किसी भी मायने में मोदी से कम नहीं है! जिन तथाकथित 'लिबरल जन' का भरोसा इस नटवरलाल पर है और जो इसे मोदी का विकल्प समझ रहे हैं, उन्हें भी अब अपनी आँखे खोल लेनी चाहिए।

सरकार और दलाल यूनियनों की सारी कोशिशों के बावजूद आँगनवाड़ी की महिलाएँ अपनी यूनियन 'दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन' के नेतृत्व में शानदार तरीक़े से अपनी हड़ताल को चला रही हैं और अपनी एकता के दम पर ज़रूर दिल्ली सरकार को झुकायेंगी!

— बिगुल संवाददाता

लुधियाना में राजीव गाँधी कालोनी के हज़ारों मज़दूर परिवार बस्ती उजाड़ने के ख़िलाफ़ संघर्ष की राह पर

पिछले कुछ महीनों से राजीव गाँधी कालोनी उजाड़ने की तैयारियाँ पूरे ज़ोरों से की जा रही हैं। 21 अप्रैल को कालोनी तोड़ने के लिए नगर निगम ने भारी संख्या में पुलिस बुलाकर कालोनी पर हमला किया था। कुछ घर तोड़ भी दिये गये। लेकिन लोगों के बहादुरी भरे सख़्त विरोध के चलते प्रशासन को पीछे हटना पड़ा। लेकिन प्रशासन चुप नहीं बैठा है। कभी भी कालोनी तोड़ने की कार्रवाई दुबारा हो सकती है। पूँजीपतियों द्वारा यह कालोनी ख़ाली करवाने की अपीलों पर हाईकोर्ट का आदेश भी आ चुका है कि यहाँ के निवासियों को रहने के लिए कोई अन्य जगह देकर यह जगह ख़ाली करवायी जाये।

इस कालोनी में दस हज़ार से अधिक परिवार रहते हैं। कालोनी निवासियों के राशन कार्ड, वोटर कार्ड, बिजली मीटर, आधार कार्ड बने हुए हैं। यहाँ धर्मशाला के निर्माण व अन्य कामों के लिए सरकारी ग्राण्टें भी जारी होती रही हैं। जब कारख़ाना मालिकों को ज़रूरत थी, तो यहाँ फ़ोकल प्वाइण्ट के बिल्कुल बीच सरकारी ज़मीन पर मज़दूर बस्ती बसने दी गयी। लोगों ने अपनी मेहनत से पक्के घर बना लिये। अब जब पूँजीपतियों को इस बेशक़ीमती ज़मीन की ज़रूरत आन पड़ी है, तो कालोनी तोड़ने की कोशिश

की जा रही है।

लोगों को जो फ़्लैट देने की बात कही जा रही है, वे भी रहने लायक नहीं हैं। 25 गज की जगह में चार मंज़िला इमारत खड़ी की गयी है। ये चार फ़्लैट अलग-अलग अलॉट किये जायेंगे। ये फ़्लैट बेहद संकरे और नीची छत वाले हैं। यहाँ एक परिवार का रह पाना भी सम्भव नहीं है। और ये फ़्लैट हासिल करने के लिए लोगों के सामने ऐसी शर्तें रखी जा रही हैं कि बहुसंख्यक कालोनी निवासियों के लिए ये शर्तें पूरा कर पाना सम्भव नहीं है। और घर के बदले घर भी नहीं दिये जा रहे, बल्कि दिये जा रहे फ़्लैटों की क़ीमत माँगी जा रही है।

पूँजीपति बैंकों के क़र्ज़ हड़प कर जाते हैं। वे सरकारी ज़मीनों पर सरेआम क़ब्ज़े करते हैं, कोई कार्रवाई नहीं होती। एक तरफ़ पूँजीपतियों के लिए भारी क़र्ज़ माफ़ी और दूसरी ओर ग़रीबों की बस्तियों का उजाड़ना। शासकों का यही चरित्र है। होना तो यह चाहिए था कि लोगों को उजाड़ने की जगह इस कालोनी को क़ानूनी घोषित किया जाये। लोगों को सारी सहूलियतें दी जायें। स्वास्थ्य, शिक्षा, साफ़-सफ़ाई, पक्की गलियाँ, बिजली-पानी, आदि के पुख़्ता प्रबन्ध किये जायें। लेकिन सरकार तो लोगों को उजाड़ने पर आमादा है।

कारख़ाना मज़दूर यूनियन की पहलक़दमी पर 'राजीव गाँधी कालोनी उजाड़े विरोधी संघर्ष कमेटी' का गठन किया गया है। इसके नेतृत्व में लोग संघर्ष की राह पर है। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' लोगों के कन्धे से कन्धा मिलाकर संघर्ष में साथ दे रहा है। उजाड़े के ख़िलाफ़ हाईकोर्ट में भी अर्जी दायर की गयी है। हाईकोर्ट में कुछ जनपक्षधर वकील निशुल्क केस लड़ रहे हैं। लेकिन मसला तो जनता की एकजुटता से ही हल होना है। जनता के सख़्त एकजुट संघर्ष से ही हुक्मरानों की उजाड़े की साज़िशों को नाकाम किया जा सकता है। संघर्ष कमेटी इसी राह पर है। जनता को लामबन्द कर रही है। कुछ धन्धेबाज़ तथाकथित प्रधानों ने कालोनी बचाने के नाम पर लोगों से हज़ारों रुपए इकट्ठे करने शुरू कर दिये हैं। यह उनका पैसा कमाने का पुराना तरीक़ा है। वे बिजली, पानी, साफ़-सफ़ाई, आधार कार्ड आदि मसलों से जुड़ी हर समस्या पर लोगों से पैसे ऐंठते रहे हैं। हज़ारों परिवारों पर टूट पड़े उजाड़े के इस क़हर को भी ये धन्धेबाज़ पैसा कमाने के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। ये संघर्ष कमेटी के ख़िलाफ़ तरह-तरह का झूठ प्रचारित कर रहे हैं। लेकिन कालोनी निवासी इनकी असलियत पहचान रहे हैं। कुछ लोगों को छोड़कर बाक़ी लोग इनके चंगुल से आज़ाद हैं।

दस हज़ार से अधिक परिवारों के उजाड़े की यह सरकारी कोशिश कोई छोटा मसला नहीं है। सभी इंसाफ़पसन्द लोगों को इस उजाड़े के ख़िलाफ़ संघर्ष की राह चले लोगों के कन्धे से कन्धा मिलाने के लिए आगे आना चाहिए, उनके हक़ में ज़ोरदार आवाज़ उठनी चाहिए।

– लखविन्दर

'राजीव गाँधी कालोनी उजाड़े विरोधी संघर्ष कमेटी' के आह्वान पर चेतावनी रैली हुई

उजाड़े की सरकारी कोशिशों के ख़िलाफ़ गुज़री 9 जुलाई को राजीव गाँधी कालोनी उजाड़ा विरोधी संघर्ष कमेटी के आह्वान पर चेतावनी रैली की गयी। इस रैली के ज़रिये कालोनी निवासी मज़दूरों-मेहनतकशों ने लुधियाना प्रशासन को सख़्त चेतावनी दी है कि अगर उन्हें ज़बरदस्ती उजाड़ने की कोशिश की गयी तो वे इसके ख़िलाफ़ किसी भी हद तक सख़्त संघर्ष लड़ने को तैयार हैं।

वक्ताओं ने कहा कि बड़े अमीरों द्वारा सरकारी सम्पत्तियों पर किए क़ब्ज़ों के ख़िलाफ़ सरकार कोई कार्रवाई नहीं करती लेकिन ग़रीबों को उजाड़ने के लिए हमेशा कमर कसे रहती है। इससे सरकारी व्यवस्था का पूँजीपरस्त और जनविरोधी चरित्र स्पष्ट होता है। संघर्ष कमेटी का कहना है कि सरकार का रवैया बिल्कुल भी सहन नहीं किया जायेगा। लोग अपनी ज़िन्दगी-भर की ख़ून-पसीने की कमाई से बनाये घर नाजायज़ तौर पर तोड़े जाने के ख़िलाफ़ सख़्त से सख़्त संघर्ष लड़ेंगे।

चेतावनी रैली को 'राजीव गाँधी कालोनी उजाड़े विरोधी संघर्ष कमेटी' के संयोजक राजविन्दर के अलावा लखविन्दर, तेजपाल, विजेन्दर कुमार, विश्वनाथ (बाबा), गोपाल, हरीनाथ, नारायण दास आदि ने सम्बोधित किया।

- बिगुल संवाददाता, लुधियाना

यूनियन बनाने की कोशिश और माँगें उठाने पर ठेका श्रमिकों को कम्पनी ने निकाला, संघर्ष जारी

बिनौला (गुड़गाँव) स्थित मीनाक्षी पोलीमर्स प्राइवेट लिमिटड (एमपीपीएल) के ठेका वर्करों को निकाले जाने के विरुद्ध संघर्ष दमन के बावजूद जारी है।

ठेका वर्करों के संघर्ष के सातवें दिन, 7 जुलाई 2017 को पुलिस गाली-गलौच के साथ धरना-स्थल को ख़ाली करने की धमकी देने लगी। इस पर ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री काण्ट्रेक्ट वर्कर्स यूनियन (एआईसीडब्ल्यूयू) के साथी अनन्त और शाम ने पुलिस को सही तरीक़े से बात करने के लिए कहा और वर्करों को गाड़ी में डालने से रोका। पुलिस से गिरफ़्तारी का वारण्ट माँगा और धरने वाली जगह तथा रहने-ठहरने वाली जगह पर किसी भी तरह के धरना-प्रदर्शन न करने के बारे में स्टे-ऑर्डर के बारे में पूछा। वर्करों ने भी बताया कि वे लोग एक प्राइवेट व्यक्ति के प्लाट में बैठे हैं और जब सड़क भी बैठते हैं तो एक किनारे बैठते हैं, किसी भी तरह से ट्रैफ़िक या किस व्यक्ति को परेशान नहीं कर रहे। पुलिस ने न तो कोई गिरफ़्तारी का वारण्ट और न ही स्टे-ऑर्डर जैसा कोई भी कागज़ दिखाया और न ही कोई तर्क सुना। उल्टा दो मज़दूर साथियों नीरज और यशपाल के साथ-साथ यूनियन के अनन्त और शाम को पुलिस गाड़ी में डालकर ले गयी और जाते हुए बाक़ी वर्करों को धमकी दी कि पाँच मिनट में जगह ख़ाली कर दो वरना तुम सबको उठाकर ले जायेंगे। गाली-गलौच और मारपीट थाने में भी जारी रहा। जब चारों अनन्त और शाम ने अपने साथियों को बताने की बात करने की कोशिश की तो सबके फ़ोन रास्ते में ही छीन लिये थे। यह है देश में अपने अधिकार की बात करने पर मालिक-ठेकेदार-पुलिस-प्रशासन के गठजोड़ का काम करने का तरीक़ा।

ज्ञात रहे कि मीनाक्षी पोलीमर्स प्राइवेट लिमिटड (एमपीपीएल) में 1 जुलाई 2017 को लगभग सभी सवा सौ ठेका श्रमिकों को बिना किसी नोटिस के एक साथ निकाल कर बाहर दिया और कहा कि उनके ठेकेदार - नेहा एण्टरप्राइज़ेज़ तथा श्री एण्टरप्राइज़ेज़ का ठेका रद्द कर दिया गया। अगर काम करना चाहते हैं तो अपने ठेकेदार से पूछो और अपना काम कहीं ओर ढूँढ़ लो। ठीक इसी तरह क़रीब दो महीने पहले मार्क एग्ज़ास्ट कम्पनी के ठेका वर्करों द्वारा ठेकेदार के ख़िलाफ़ यूनियन बनाने और अपनी माँगों को रखने पर बाहर का रास्ता दिखाया था।

वैसे तो श्रम विभाग द्वारा नोटिस मिलने पर ही कम्पनी प्रबन्धन ने वर्करों को निकालने की अपनी योजना की तैयारी शुरू कर दी थी। 23 जून को यूनियन ने अपनी माँगों के लिए अपना डिमाण्ड नोटिस लगाया था। इस पर तब क़रीब 50-60 नये वर्करों को कम्पनी में ओवरटाइम बन्द करने के लिए लाया गया है और पुराने वर्करों को कहा कि किसी को काम पर नहीं निकाला जायेगा। नये लोगों को बी-शिफ़्ट में काम करवाया जायेगा। असल में यह झूठा आश्वासन है, असली मंशा तो नये वर्करों को ट्रैनिंग देकर पुराने वर्करों को निकालना थी। और 30 जून को ही कम्पनी ने जब वर्कर काम कर रहे थे तो कम्पनी में प्रबन्धन ने नोटिस लगा लगा दिया था जिसमें 1 जुलाई 2017 से वर्करों को बाहर किया जा रहा है और कहा जा रहा कि आपके ठेकदारों का ठेका ख़त्म किया जा रहा है। 30 तारीख़ को ही श्रम विभाग में 23 तारीख़ के डिमाण्ड नोटिस की तारीख़ थी। जिसमें यूनियन के लोगों तथा कम्पनी को आना था। यूनियन के लोग तो पहुँचे लेकिन कम्पनी ने अपनी तरफ़ से अपनी कम्पनी के दूसरे प्लाण्ट के व्यक्ति को भेज दिया था। पहले तो कम्पनी के द्वारा भेजे गये व्यक्ति ने किसी भी तरह के डिमाण्ड नोटिस से इंकार कर दिया। इस पर श्रम विभाग ने 10 जुलाई, 2017 को दोबारा तारीख़ तय की जिसमें दो पार्टियों को बुलाया था उसके बाद 19 जुलाई 2017 की तारीख़ दे दी है। इस बीच कम्पनी द्वारा 20-30 वर्करों को कम्पनी में ही रखा जाता है उन्हें अन्दर ही खाना खिलाया जाता है। कुछ श्रमिकों को गाड़ी में भरकर लाया जाता है और फिर काम ख़त्म होने पर ही गाड़ी में भर कर कहीं दूर भेज दिया जाता है। मालिक इतना डरा हुआ है कि किसी भी तरह से नये श्रमिकों को धरने पर बैठे पर बैठे हुए श्रमिकों ने मिलने-जुलने नहीं दिया जाता है।

लेकिन वास्तविक कारण महज़ ठेका ख़त्म करना नहीं है बल्कि एक महीने पहले से वर्करों ने यूनियन फ़ाइल मीनाक्षी पोलीमर्स ठेका श्रमिक संगठन

(पेज 5 पर जारी)

ऑटोमैक्स में तालाबंदी के ख़िलाफ़ आन्दोलन

24 जून को कम्पनी ने गेट पर एकाएक तालाबंदी का नोटिस चिपका दिया और करीब 320 श्रमिकों को एक झटके में बिना किसी नोटिस के सड़क पर ला दिया। ये श्रमिक पिछले 25-30 साल से स्थायी तौर पर काम कर रहे थे। जब गुड़गाँव से कम्पनी को बिनौला में शिफ़्ट किया था उसी वक़्त इन श्रमिकों को भी शिफ़्ट किया गया था। तालाबंदी के बारे में न तो कम्पनी की यूनियन (ऑटोमैक्स कर्मचारी यूनियन जो एच.एम.एस. से संबद्ध है) को पता था और और न ही किसी मज़दूर को पता था। ऑटोमैक्स लिमिटेड (औमेक्स ऑटो लिमिटेड की यूनिट) गुड़गाँव से जयपुर रोड पर बिनौला में स्थित ऑटोपार्ट्स कम्पनी है।

तालाबन्दी की नोटिस लगने पर यूनियन के लोग गेट पर बैठ गये और मशीन और जरूरी उपकरण को कम्पनी से बाहर जाने से रोकने लगे। यूनियन बार-बार तालाबंदी के क़ानूनी दस्तावेज़ की दिखाने की माँग करती रही। प्रबन्धन ने सुरक्षा के बहाने पुलिस को बुलाया और फिर से पुलिस से मिलीभुगत करके अपनी मशीनों-उपकरणों को निकलवाने की कोशिश करने लगी लेकिन श्रमिक भी डटे रहे। पुलिस ने 200 मीटर के दायरे में किसी भी तरह के धरने-प्रदर्शन न करने के स्टे-आर्डर की बात करते हुए अपनी पुरानी चाल चली। लेकिन जब स्टे-आर्डर की कॉपी पुलिस से माँगी गयी तो पुलिस कुछ भी नहीं दिखा पायी। थाने में जाने पर पहले तो पुलिसवालों ने यह कहा कि मशीन-उपकरण आदि तो कम्पनी की प्रापर्टी है, वह जब चाहे इसे निकाल सकती है। यूनियन ने ग़ैर-क़ानूनी तालाबंदी के बारे में जाँच करने के लिए कहा। प्रबन्धन द्वारा तालाबंदी के किसी क़ानूनी नोटिस की कॉपी, तालाबंदी के लिए प्रार्थना-पत्र की कॉपी, किसी भी तरह से तालाबंदी के लिए हानि-लाभ का ब्यौरे की कॉपी पेश नहीं कर पायी। यूनियन डी.सी. से मिली और उनको झूठे स्टे-आर्डर तथा ग़ैर-क़ानूनी तालाबंदी के बारे में बताया और यही बात श्रम विभाग को बतायी। दोनों ही एक दूसरे पर टालते रहे। यानि न तो पुलिस किसी स्टे–आर्डर की कॉपी और न ही प्रबन्धन तालाबंदी के लिए कानूनी सबूत पेश कर पाये और न ही श्रम विभाग द्वारा कोई ठोस कदम कम्पनी के ख़िलाफ़ उठाया गया जबकि श्रम विभाग खुद मान रहा है कि कम्पनी के पास कोई क़ानूनी तालाबंदी का दस्तावेज़ नहीं है। श्रमिक धरने-प्रदर्शन की कार्रवाई में डटे हुए हैं। डी.सी. ने त्रिपक्षीय वार्ता के लिए कम्पनी प्रबन्धन तथा यूनियन को 18 जुलाई को दोबारा बुलाया है।

इस चीज की चर्चा करना भी जरूरी है कि इस कम्पनी में पिछले 20-25 सालों में 30-40 श्रमिकों के हाथ कटे हैं और किसी का हाथ, बाज़ू, अंगूठा और कुछ श्रमिकों का तो एक बार ज़्यादा कटा है और कई श्रमिकों के तो पैर कटे हैं। आज तक किसी को कोई उचित मुआवजा नहीं मिला।

14 जुलाई को ऑटोमैक्स यूनियन के

(पेज 5 पर जारी)

नोएडा में ज़ोहरा के साथ हुई घटना : घरेलू कामगारों के साथ बर्बरता की एक बानगी

हाल ही में नोएडा के महागुन मॉर्डन अपार्टमेण्ट में एक घरेलू कामगार महिला के साथ जो घटना हुई है, वह देश के लाखों-करोड़ों घरेलू कामगार महिलाओं के साथ होने वाली रोज़-रोज़ की बर्बरता और अमानवीयता का एक प्रमाण है। साथ ही साथ यह इस बात का भी प्रमाण है कि खाते-पीते मध्य वर्ग के धनपशुओं की बर्बरता बेलगाम हो चुकी है।

हम देखते हैं कि पूँजी की मार से उजड़ कर लाखों लोग रोज़गार की तलाश में दूरदराज़ इलाक़ों से निकलकर शहरों की ओर आ रहे हैं। पूँजीवाद ने जहाँ मुट्ठीभर आबादी को ऐशो-आराम के तमाम सरंजाम दिये हैं, वहीं अधिकांश आबादी को भयानक ग़रीबी और भुखमरी के हालात में धकेल दिया है। हमारे देश में घरेलू कामगारों की एक बहुत बड़ी आबादी काम करती है। एक अनुमान के मुताबिक़ उनकी कुल संख्या 10 करोड़ है, जिसमें स्त्री, पुरुष और बच्चे भी शामिल हैं। यह आबादी बहुत बिखरी हुई है और बेहद नारकीय जीवन बिता रही है। जिस घटना का हम ज़िक्र करने जा रहे हैं, वह नोएडा के सेक्टर 78 स्थित महागुन मॉर्डन अपार्टमेण्ट में एक घरेलू कामगार महिला ज़ोहरा बीबी के साथ 11 जुलाई की घटना है। इस घटना ने साबित कर दिया है कि यह आबादी लम्बे समय तक चुप नहीं बैठेगी और देर-सवेर अपने हक़ों के लिए ज़रूर आवाज़ उठायेगी।

घटना की शुरुआत 11 जुलाई को हुई। महागुन के फ़्लैट नंबर 12 में दो घरेलू कामगार औरतें काम करती हैं। इनमें से एक, ममता बीबी खाना बनाती है और दूसरी ज़ोहरा बीबी झाड़ू-पोंछा लगाती है। घटना वाले दिन दोनों ने अपनी दो महीने से बकाया तनख्वाह माँगी तो उनसे कहा गया कि शाम को आकर पैसे ले जाना। उस दिन शाम को ज़ोहरा बाकी पाँच घरों का काम निपटाने के बाद अपने पैसे लेने पहुँची। मालकिन ने उससे कुछ काम कराया और इसी बीच उस पर पर्स से रुपये चुराने का आरोप लगा दिया। ज़ोहरा के मुताबिक उसने मारपीट भी की। एक अखबार के अनुसार, मालकिन का आरोप है कि उसके पर्स के दस हज़ार ज़ोहरा ने चुराये हैं और दूसरे अख़बार के अनुसार, मालकिन ने 17 हज़ार रुपये चुराने का आरोप लगाया और जोहरा ने दस हज़ार रुपये चुराने की बात मंज़ूर भी कर ली। एक अख़बार के अनुसार मालकिन पदाधिकारियों से शिकायत करने की बात कहकर अंदर गयी तो ज़ोहरा पकड़े जाने के डर से मोबाइल वहीं छोड़कर भाग गयी। ज़ोहरा का कहना है कि वह छोड़ कर नहीं गयी बल्कि उसका मोबाइल छीन लिया गया। वैसे, चोरी की बात पुलिस या पदाधिकरियों से तब तक नहीं बतायी गयी जब तक कि ज़ोहरा के बुरी हालत में मिलने के बाद हंगामा नहीं हो गया।

शाम हो जाने के बाद भी ज़ोहरा वापस घर नहीं पहुँची तो उसके पति अब्दुल सत्तार रात करीब आठ बजे अपनी बीवी को ढूँढ़ने महागुन अपार्टमेंट पर पहुंचे। चौकीदार ने कामकाजी लोगों के लिए बने रजिस्टर को देखकर बताया कि ज़ोहरा के आने का समय तो दर्ज है लेकिन जाने का नहीं। दो चौकीदार उनके साथ बारह नंबर फ्लैट पर गये लेकिन मालकिन ने कह दिया कि उसे कुछ नहीं मालूम। पति के सौ नंबर पर फोन करने के दो घंटे बाद पुलिस आयी और अब्दुल सत्तार के साथ फिर से 12 नंबर के फ्लैट में गयी मगर खानापूरी करके लौट आयी। अपनी झुग्गी बस्ती में वापस आकर पड़ोसियों को घटना बताने पर सबकी राय बनी कि सुबह-सुबह महागुन पर चलकर पूछा जाये। सुबह ज़ोहरा के पति के साथ बस्ती के काफ़ी लोग महागुन के गेट पर पहुँचे और ज़ोहरा का पता लगाने के लिए हंगामा किया। इस दबाव में पुलिस आयी और करीब छह बजे ज़ोहरा को चौकीदारों के साथ महिला पुलिस किसी सामान की तरह उठाकर बाहर लायी। वह अर्द्धबेहोशी की हालत में थी और ठीक से बोल भी नहीं पा रही थी। किसी तरह उसने बताया कि उस पर चोरी का आरोप लगाकर मालकिन ने मारा-पीटा, उसका मोबाइल छीन लिया। इस पर भीड़ उत्तेजित हो गयी और भीतर घुसने की कोशिश करने लगी। गार्डों ने उन्हें भीतर जाने से रोका, उनके साथ गाली-गलौज और अभद्रता की। वे लोग पहले से ही परेशान थे और गुस्से में भी थे। महागुन के गेट पर तोड़फोड़ हुई और पुलिस तथा चौकीदारों के बावजूद कई लोग मालकिन के फ्लैट तक पहुँच गये। आरोप लगाया गया है कि कुछ लोग फ्लैट का शीशा वगैरह तोड़कर अंदर घुस गये जिससे मालकिन और उसका बेटा डरकर बाथरूम में छिप गये। घटना के बाद दोनों तरफ से प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज हुई। महागुन की तरफ से अलग-अलग तीन एफ़.आई.आर. और ज़ोहरा की तरफ से कुल एक।

तमाम अख़बारों ने इस ख़बर को इस तरह बताया जैसे कि ज़ोहरा के घरवाले और आसपास के लोग दंगाई थे, लुटेरे थे, या फिर हत्यारे थे, जिन्होंने खाते-पीते मध्यवर्ग के घरों को अपने हमले का निशाना बनाया। बहरहाल पूँजीवादी मीडिया से इससे ज़्यादा की उम्मीद की भी नहीं जा सकती है। हद तो तब हो गयी जब सोशल मीडिया, फ़ेसबुक, ट्विटर और व्हाट्सऐप पर इस तरीक़े के सन्देश प्रसारित होने लगे कि नोएडा को "मालदा" बनाया जा रहा है, कि नोएडा मुस्लिम आतंकवादियों का गढ़ बन गया है। असल में मामला तो घरेलू मज़दूरी करने वाली एक महिला कामगार से जुड़ा हुआ था, लेकिन इसे साम्प्रदायिक रंग दिया जाने लगा। सोशल मीडिया पर दुष्प्रचार में सक्रिय बहुतेरे लोगों के फ़ेसबुक अकाउण्ट देखने पर पता चला कि ये लोग या तो मोदीभक्त थे, या कहीं-न-कहीं भाजपा की विचारधारा, संघ की विचारधारा और हिन्दुत्व की विचारधारा से प्रभावित हैं। कोई हेडगेवार का समर्थक था तो कोई सावरकर का पूजक था या फिर कोई हिन्दू "राष्ट्रवाद" का झण्डा उठाने वाला था। इससे यह भी पता चलता है कि मध्य वर्ग के वे तमाम लोग जो आज हिन्दुत्ववादी विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं, जो "राष्ट्रवाद" के नारे लगा रहे हैं, असल में उन्हें देश के करोड़ों-करोड़ मेहनतकशों की ज़िन्दगी से कोई लगाव नहीं है। इसके ठीक विपरीत उनके भीतर मेहनतकश वर्ग के लोगों के प्रति बहुत नफ़रत भरी हुई है। वे कामगारों को कीड़े-मकौड़ों से ज़्यादा कुछ नहीं समझते। वे शायद यह समझते हैं कि ग़रीब लोग उनकी सेवा के लिए ही बने हैं और इसलिए उनके साथ 'इस्तेमाल करो और फेंको' वाला घटिया बर्ताव करते हैं।

महागुन के सदस्यों द्वारा कामकाज करने वालों को बांग्लादेशी बताए जाने पर पुलिस ने इनकी नागरिकता की जांच करने की बात शुरू कर दी जबकि पुलिस का एक अधिकारी ज़ोहरा को भारतीय नागरिक पहले ही बता चुका था। महागुन से करीब एक किलोमीटर दूर रहने वाले ये लोग पश्चिम बंगाल के कूचबिहार ज़िले के रहने वाले हैं, जिनमें से कई 10-15 साल पहले ही यहाँ आकर बस गये थे। बस्ती की महिलाओं ने थाने पर प्रदर्शन करके अपना भारतीय निर्वाचन कार्ड और आधार कार्ड भी सबको दिखाया।

इस पूरी घटना के दौरान पुलिस महकमा महागुन अपार्टमेण्ट के रहने वाले करोड़पतियों के पक्ष में काम कर रहा था। उन्होंने यह मानने से ही मना कर दिया कि ज़ोहरा के साथ उसकी मालकिन ने मारपीट की है और उसे महागुन अपार्टमेण्ट में ही बन्द करके रखा हुआ है। जब सुबह बस्ती के लोग महागुन अपार्टमेण्ट पहुँचे तो मजबूर होकर पुलिस को वहाँ आना पड़ा और तब पता चला कि ज़ोहरा को सचमुच में एक कमरे में बन्द करके रखा गया था। उसके साथ मारपीट की गयी थी। जब उसे इलाज के लिए अस्पताल ले जाया जा रहा था तो वह रास्ते-भर उल्टियाँ करती रही। उसकी हालत बेहद खराब थी। बाद में पता चला कि पुलिस वालों ने ख़ुद ही ज़ोहरा की तरफ़ से एक एफ़आईआर दर्ज की है, लेकिन वह इस तरह से की गयी थी कि पूरा मामला ही कमज़ोर पड़ जाये। इसके साथ ही साथ ज़ोहरा के खिलाफ़ भी एक झूठी एफ़आईआर दर्ज करवायी गयी, जिसमें उस पर 17000 रुपये चोरी करने का मनगढ़न्त आरोप लगाया गया था। पहले बताया गया कि चोरी करते हुए ज़ोहरा का एक वीडियो है, लेकिन बाद में पता चला कि यह दावा एकदम झूठा था और ऐसा कोई वीडियो था ही नहीं। आमतौर पर यही होता है कि ग़रीब मज़दूर जब भी अपने हक़ों के लिए आवाज़ उठाते हैं तो उन्हें चोर, लुटेरा साबित करने की कोशिश की जाती है, ताकि उनकी आवाज़ को दबाया जा सके। इसके साथ ही पुलिस वालों ने उसी दिन रात के अँधेरे में, ज़ोहरा की बस्ती पर छापा मारा और क़रीब 50 लोगों को रात में उठा लिया। अगले दिन उनमें से 13 लोगों के खिलाफ़ एफ़आईआर दर्ज की गयी और उन्हें गिरफ़्तार कर उन पर संगीन धाराओं में मुक़दमा दायर किया गया। इसके तीन ही दिन बाद अतिक्रमण बताकर उस पूरी बस्ती को बुलडोज़र चलाकर ध्वस्त कर दिया गया। यह सब कुछ बताता है कि आज ग़रीब बिखरी हुई आबादी के लिए अपने हक़ों के लिए आवाज़ उठाना कितना मुश्किल हो गया है और जब तक कि वे संगठित नहीं हो जाते हैं, तब तक उनके सामने ये मुश्किलें बनी रहेंगी। साथ ही साथ यह घटना बताती है कि आम मेहनतकशों की एकता को तोड़ने और उनके खिलाफ़ नफ़रत फैलाने के लिए फासीवादी ताक़तें बेशर्मी के साथ धर्म का इस्तेमाल करती हैं ताकि असली मुद्दे पर पर्दा डाला जा सके।

— तपिश

मीनाक्षी पोलीमर्स का आन्दोलन...

(पेज 4 से आगे)

(एम.पी.डी.एस.एस.) के नाम से लगायी थी। फ़िलहाल पिछले एक महीने से 8252 के हिसाब से पेमण्ट किया जाता है। इससे पहले 7977 के हिसाब पेमण्ट होता था। मुख्य माँगों में छुट्टी, गेट पास, बोनस, कैंटीन, पेमण्ट स्लीप, पहचान पत्र, पी.एफ़. एगरीमेण्ट, 3 से 5 पुराने वर्करों को पक्का किया जाना, लंच की सुविधा, चाय-पानी की सही व्यवस्था, फ़र्स्टऐड कीट, सुरक्षा उपायों, एग्ज़ॉस्ट फ़ैन व पंखों आदि की माँग थी। लेकिन कम्पनी को न तो वर्करों की माँगें गवारा थीऔर न ही यूनियन।

मीनाक्षी पोलीमर्स प्रा. लि. कम्पनी की शुरुआत 2007 के आसपास हुई। इसकी कुल मिलाकर सात इकाइयाँ हैं। बिनौला के अलावा मानेसर, गुड़गाँव, नीमराना, यू.पी. में दादरी, हरिद्वार में दो प्लाण्ट हैं। एमपीपीएल बिनौला ऑटो पार्टस की कम्पनी है जिसमें अलग-अलग कम्पनियों के लिए फुट रेस्ट असेंबलिंग, डिस्क ब्रेक, ईनरवेज करिशना मारुति के लिए, बाईक के स्टैण्ड, मोटर पम्प का ढक्कन आदि बनता है।

दमन के बावजूद ठेका वर्करों ने अपने संघर्ष को आगे बढ़ाने का निर्णय किया है।

— बिगुल संवाददाता

ऑटोमैक्स में तालाबंदी के ख़िलाफ़ आन्दोलन

(पेज 4 से आगे)

अलावा अन्य कई यूनियनों - मीनाक्षी पॉलीमर्स प्रा. लि., मेट्रो आर्टम, मार्क एग्जास्ट द्वारा गुड़गाँव के ज़िला प्रशासन के ऑफ़िस पर रोष प्रदर्शन किया गया और श्रमायुक्त को ज्ञापन दिया गया जिसमें ऑटोमैक्स कम्पनी के श्रमिकों को ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से तालाबंदी करके निकालने के अलावा मेट्रो आर्टम से निकाले गये 45 स्थायी व 120 अस्थायी श्रमिकों को काम पर वापिस लेने, मार्क एग्जास्ट द्वारा कई वर्षों से कार्यरत ठेका श्रमिकों को ग़ैर-क़ानूनी ढंग से नौकरी से निकालने और मीनाक्षी पॉलीमर्स के श्रमिकों का मुद्दा भी रखा गया।

फ़िलहाल किसी भी कम्पनी का मुद्दा श्रम विभाग-प्रशासन-सरकार द्वारा हल होता नहीं आ रहा है। आज महज ज्ञापनों धरने-प्रदर्शनों से मालिकपरस्त विभागों व सरकारों को कोई असर नहीं पड़ रहा है। ज़रूरत है गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा-बावल से लेकर भिवाड़ी-खुशखेड़ा-नीमराना तक ऑटो सेक्टर के सभी मज़दूरों की फौलादी एकता कायम की जाये और व्यापक स्तर पर जुझारू आन्दोलन खड़ा किया जाये।

— बिगुल संवाददाता

गाय के नाम पर "गौ-रक्षक" गुण्डों के पिछले दो वर्षों के क़ारनामों पर एक नज़र

गाय के नाम पर फासीवादियों ने जो गुण्डागर्दी और क़त्लोगारत देशभर में मचा रखी है, वह किसी से छिपी नहीं है। "गौ-रक्षक" गुण्डे मोदी के सत्ता में आने के बाद बेख़ौफ़ घूम रहे हैं और नयी-नयी घटनाओं को अंजाम दे रहे हैं। इन घटनाओं पर देश के प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी पूरी बेशर्मी से चुप्पी धारण किये रहे, जब दुनियाभर में थू-थू होने लगी तो कह दिया कि महात्मा गाँधी इन हत्याओं को ठीक नहीं कहते। विरोध और बढ़ा तो एक और बयान दे दिया कि गौरक्षा के नाम पर गुण्डई बर्दाश्त नहीं की जायेगी। मगर गौ-गुण्डों को भी पता है कि ये सब बयान दूसरों को सुनाने के लिए हैं। इसीलिए, मोदी कुछ भी कहते रहें, गाय के नाम पर हत्याएँ और गुण्डागर्दी लगातार जारी है। इन गौ-गुण्डों को सरकारी शह हासिल है। लगभग सारी ही घटनाओं में पुलिस की भूमिका मूकदर्शक वाली बनी हुई है, कहीं-कहीं पुलिस ख़ुद "दोषियों" को गौ-गुण्डों के हवाले कर रही है। यह पूरा काम पुलिस और तथाकथित गौरक्षा दलों की मिलीभगत से चल रहा है। कई ऐसे वीडियो भी सामने आये हैं, जहाँ पुलिस वाले इन घटनाओं पर हँसते हुए पाये गये हैं। गौ-रक्षकों के लिए यह एक मुनाफ़े वाला धन्धा भी बन रहा है। अख़बारों में छपे लोगों के विभिन्न बयानों से पता चलता है कि कई स्थानों पर गौ-रक्षकों ने पैसे लेकर "दोषियों" को बरी किया है और अगर आप पैसे नहीं दे सकते तो सज़ा के हक़दार तो हो ही। कई जगह ये तथाकथित गौरक्षक ख़ुद ही गाय बेचते पकड़े गये हैं। इसके साथ ही मुसलमानों पर झूठे मुक़द्दमों का दौर भी शुरू हुआ है। गोवंश हत्या और अस्थायी प्रवास अथवा निर्यात नियमन क़ानून, 1995 के तहत सिर्फ़ राजस्थान में 73 मुक़द्दमे दर्ज हुए जो बाद में झूठे साबित हुए।

हम केवल पिछले डेढ़ वर्षों की घटनाओं पर एक सरसरी नज़र डालते हैं, जो ये दर्शाती हैं कि यह कुछ अलग-थलग घटनाएँ नहीं, बल्कि मामलों की एक पूरी लड़ी है। ज़्यादातर घटनाएँ मीडिया तक पहुँचने से पहले ही दम तोड़ देती हैं।

4 मार्च 2015 को महाराष्ट्र सरकार ने गाय का माँस खाने पर पाबन्दी लगा दी। किसी के पास से माँस मिलने पर नये क़ानून के अनुसार पाँच वर्ष की सज़ा और 10,000 रुपये जुर्माना लागू किया गया। महाराष्ट्र में 1976 का क़ानून सिर्फ़ गाय मारने पर पाबन्दी लगाता था, जिसको कि बदलकर बैल और साँड तक बढ़ाया गया। 16 मार्च 2015 को हरियाणा सरकार ने एक बिल पास किया जिसके मुताबिक़ गाय का माँस खाने पर पाबन्दी लगायी गयी और खाने पर 5 वर्ष की सख़्त सज़ा और 50,000 रुपये तक जुर्माना लागू हुआ।

30 मई 2015 को अब्दुल ग़फ़ूर क़ुरैशी नाम के व्यक्ति को बिरलोका, राजस्थान में पीट-पीटकर मौत के घाट उतार दिया गया। उसके बारे में सोशल मीडिया पर लगातार यह ख़बर फैलायी गयी कि एक त्यौहार के लिए उसने 200 गाय मारी हैं। हज़ारों की गिनती में भीड़ ने उसको मौत के घाट उतार दिया।

29 अगस्त 2015 को दिल्ली के मयूर विहार इलाक़े के चिल्ला गाँव में भड़की हुई भीड़ का चार ड्राइवरों से झगड़ा हुआ जो भैंसों को एक बूचड़खाने में छोड़ने जा रहे थे।

28 सितम्बर 2015 दादरी के मुहम्मद अख़लाक़ को "भीड़" ने गाय मारने के शक में वहशी तरीक़े से पीट-पीट कर मार दिया। उनके गाँव के मन्दिर से लाउडस्पीकर पर ऐलान करके सैकड़ों की भीड़ इकट्ठा की गयी जिसने उनके घर पर हमला करके उनके परिवार के सामने ही अख़लाक़ की हत्या कर दी और उनके बेटे को अधमरा कर दिया।

6 अक्टूबर 2015 को कर्नाटक में एक भैंसों-गायों के व्यापारी, जिस पर बजरंग दल के कार्यकर्ताओं ने लोहे की छड़ों से हमला कर दिया, ने भाग कर अपनी जाच बचायी। जिसके बारे में किसी ने यह अफ़वाह फैलायी कि वह एक गौ-तस्कर है।

9 अक्टूबर 2016 को यूपी के मैनपुरी ज़िले में भड़की हुई भीड़ ने गाय मारने की एक अफ़वाह के चलते उत्पात मचाया।

9 अक्टूबर 2015 को श्रीनगर के एक ट्रक पर ऊधमपुर में दक्षिणपन्थी कार्यकर्ताओं ने पैट्रोल बम से हमला किया, जिसमें दो कश्मीरी नागरिक और एक पुलिस वाला सवार था। एक नागरिक की बाद में इलाज के दौरान मौत हो गयी।

16 अक्टूबर 2015 को हिमाचल प्रदेश के सिरमौर ज़िले में भीड़ ने एक व्यक्ति को गौ-तस्करी के दोष में मौत के घाट उतार दिया।

3 दिसम्बर 2015 को हरियाणा के पलवल ज़िले में हिंसक घटनाएँ हुईं; जब भीड़ ने मांस लेकर जा रहा एक ट्रक रोक लिया।

3 जनवरी 2016 को मध्य प्रदेश के खिरकिया रेलवे स्टेशन पर गौ-रक्षकों ने एक जोड़े पर यह कहकर हमला किया कि वह गौ-माँस लेकर जा रहा है। उनके पास कुछ भी नहीं मिला।

18 मार्च 2016 को झारखण्ड के लातेहार में मज़लूम अंसारी और उसके 15 वर्षीय बेटे को पीटा गया और बाद में पेड़ पर लटकाकर फाँसी दे दी गयी जो कि एक पशु मेले में गाय लेकर जा रहे थे। गौ-रक्षक जिन्होंने इस काम को अंजाम दिया बजरंग दल के सदस्य हैं।

5 अप्रैल 2016 को कुरुक्षेत्र, हरियाणा में मुस्तैन अंसारी जो कि भैंस लेकर जा रहा था, उसको गौ-रक्षकों द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया। इस मुक़द्दमे में पंजाब और हरियाणा हाई कोर्ट ने 9 मई को सीबीआई जाँच के निर्देश दिये हैं।

2 जून 2016 को राजस्थान के प्रतापगढ़ में गौ-रक्षकों ने एक मुस्लिम व्यापारी को बुरी तरह पीटा और उसको नंगा करके तस्वीरें खींचीं।

10 जून 2016 को गुड़गाँव में दो व्यक्तियों के साथ बीफ़-ट्रांसपोर्टर होने के शक में बुरी तरह मारपीट की गयी और गाय का गोबर खाने के लिए मज़बूर किया गया।

10 जुलाई 2016 को कर्नाटक के कोपा में बजरंग दल द्वारा एक दलित परिवार पर गौ-माँस होने के शक में हमला किया गया।

11 जुलाई 2016 को गुजरात, ऊना में गौ-रक्षकों द्वारा दलित परिवार के सात सदस्यों द्वारा मरी हुई गाय की खाल उतारने के "दोष" में बुरी तरह मार-पीटकर नंगा घुमाया गया।

26 जुलाई 2016 को मध्यप्रदेश के मन्दसौर रेलवे स्टेशन पर दो मुस्लिम औरतों के पास गौ-माँस होने के शक में उनके साथ बुरी तरह मार-पीट की गयी।

30 जुलाई 2016 मुज़फ़्फ़रनगर में एक मुसलमान परिवार पर गाय मारने के शक में भड़की हुई भीड़ ने हमला किया।

5 अगस्त 2016 को लखनऊ में दलित नौजवानों को मरी हुई गाय की खाल उतारने से मना करने पर बुरी तरह मारा-पीटा गया।

18 अगस्त 2016 को प्रवीण नाम के व्यक्ति को कर्नाटक में गौ-तस्करी करने के शक में मौत के घाट उतार दिया गया। बाद में पता चला कि वह भाजपा कार्यकर्ता था।

अगस्त 2016 में आन्ध्र प्रदेश में बिजली का करेंट लगने से मरी एक गाय की खाल उतारने के लिए बुलाये गये दो दलित भाइयों पर करीब 100 गौ-गुण्डों ने यह कहकर हमला कर दिया कि उन्होंने गाय को चुराकर मारा है।

24 अगस्त 2016 को हरियाणा के मेवात में एक मुसलमान परिवार पर गौ-रक्षकों ने हमला किया। दो नौजवानों को मौत के घाट उतार दिया गया। दो बुरी तरह ज़ख़्मी हुए। उनकी बहन के साथ गैंग रेप किया गया।

18 सितम्बर 2016 को मुहम्मद अयूब नाम का व्यक्ति जो एक बैल और एक बछड़े को लेकर जा रहा था, रास्ते में हादसा होने के कारण बछड़ा मर जाता है। गौ-रक्षक अयूब के साथ बुरी तरह मार-पीट करते हैं, जो हादसे से तो बच जाता है, लेकिन इन "देशभक्तों" की मार न झेलने के कारण अस्पताल में दम तोड़ देता है।

1 अप्रैल 2017 को राजस्थान के अलवर ज़िले में मवेशी ख़रीदकर लौट रहे मुस्लिम डेरी व्यापारियों पर हमला किया गया। मवेशियों की खरीद के क़ानूनी काग़ज़ात दिखाने के बाद भी उन्हें बुरी तरह मारा गया जिससे बुज़ुर्ग पहलू ख़ान की 3 अप्रैल को मौत हो गयी। संघ परिवार की साध्वी कमल ने हत्यारे गौ-गुण्डों की तुलना भगतसिंह से की।

21 अप्रैल 2017 को जम्मू-कश्मीर के रियासी ज़िले में गौ-गुण्डों ने बंजारे परिवार पर हमला करके 9 साल की बच्ची सहित कुई महिलाओं को लोहे की छड़ों से बुरी तरह पीटा। इसी दिन दिल्ली में भी गौ-गुण्डों ने भैंस ले जा रहे कुछ व्यापारियों पर हमला किया। पुलिस ने उल्टा उन व्यापारियों को ही पशु क्रूरता क़ानून में गिरफ़्तार कर लिया।

20 जून 2017 को हरियाणा के बल्लभगढ़ में ट्रेन में जुनैद नाम के किशोर को पीट-पीट कर मार दिया गया। सीट को लेकर हुए विवाद के बाद उस पर झोले में बीफ़ रखने का आरोप लगाकर हमला किया गया।

13 जुलाई 2017 को उत्तर प्रदेश के मैनपुरी के पास भीड़ ने ट्रेन में यात्रा कर रहे 10 लोगों के मुस्लिम परिवार पर हमला किया और बुज़ुर्गों, महिलाओं और विकलांग लड़के तक को लोहे की छड़ों से बुरी तरह मारा।

ये तो चन्द एक घटनाएँ हैं। सरकार और संघ परिवार की शह पाये हुए ये गुण्डा गिरोह और उन्मादी भीड़ लगातार देशभर में आतंक मचाये हुए हैं।

- राजिन्दर सिंह

इक्कीसवीं सदी में भी नन्हीं जिन्दगियों को बाल विवाह की बलि चढ़ा रहा है समाज

पिछड़ी और दकियानूसी मूल्य-मान्यताओं के नाम पर स्त्रियों को ग़ुलाम बनाने और तमाम तरह के बर्बर अमानवीय व्यवहार का शिकार बनाने का चलन विश्वभर में आज भी मौजूद है। आपने मध्यकाल में दास प्रथा, सती प्रथा या धार्मिक कर्मकाण्डों के चलते स्त्रियों की बलि चढ़ाने या मार देने के बारे में सुना या पढ़ा जरूर होगा। मगर आज भी बाल-विवाह के नाम पर लाखों स्त्रियों की ज़िन्दगी की बलि दी जाती है। मध्यपूर्व, अफ़्रीका, दक्षिण एशिया और भारत स्त्रियों को सामन्ती मूल्य-मान्यताओं में बाँधने में सबसे आगे हैं। यूनीसेफ़ (यूनाइटेड नेशन्स चिल्ड्रेन एमरजंसी फण्ड) की रिपोर्ट के मुताबिक बाल विवाह के मामले में बंगलादेश का पहला और भारत का दूसरा स्थान है।

'द सिटीज़न' (9 मई, 2017) की ख़बर के अनुसार भारत की 22% यानि लगभग 24 करोड़ आबादी 10-19 वर्ष की है। यहाँ 47% लड़कियों का विवाह 5-15 वर्ष की आयु में ही कर दिया जाता है यानि प्रत्येक दो लड़कियों में से एक लड़की के बालिग होने से पहले ही विवाह कर दिया जाता है। भारत में वैसे तो हर राज्य में बाल-विवाह के नाम पर नन्हीं जिन्दगियों को बर्बाद करना जारी है लेकिन उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, झारखण्ड, पश्चिम बँगाल और मध्य प्रदेश इसमें सबसे आगे हैं।

बाल विवाह के कारण वैसे तो लड़के और लड़की दोनों का ही मानसिक और शारीरिक विकास ठीक ढंग से नहीं हो पाता, क्योंकि जो आयु उनकी ज़िन्दगी के बारे में सीखने की होती है उसे तथाकथित विवाह बन्धन में बाँध दिया जाता है। लेकिन लड़कियों के लिए यह परम्परा बेहद भयानक है। लड़की को अहसास भी नहीं होता कि वह किस जंजीर में बँधने जा रही है। सी.बी.एन. न्यूज़ के एक रिपोर्टर अमित बेदी ने राजस्थान में वीना नाम की लड़की जिसकी आयु सिर्फ 8 वर्ष थी उसे विवाह के समय ज़ोर-ज़ोर से रोते हुए देख उसकी दादी से कारण पूछा तो उसने जवाब दिया कि इसको पता नहीं है कि विवाह क्या होता है या अभी वह घर की देख-रेख के प्रति सचेत नहीं हुई इसलिए थोड़ा डरी हुई है लेकिन जल्दी ही उसको आदत पड़ जाएगी। मेरा भी विवाह छोटी आयु में हो गया था। अमित आगे बताते हैं कि राजस्थान में अप्रैल से मई के महीने में यहाँ रात को हज़ारों की संख्या में गुप्त विवाह करवाये जाते हैं जिसमें विवाह करने वालों की आयु 5-19 वर्ष तक होती है। कुछ की आयु इतनी छोटी होती है कि उनके माँ-बाप गोद में उठाकर लाते हैं। शहरों के मुकाबले गाँवों और दलितों में बाल-विवाह 3 प्रतिशत ज़्यादा होते हैं। विवाह के बाद अक्सर लड़कियों के पढ़ने-लिखने पर भी पाबन्दी लगा दी जाती है।

बाल विवाह स्त्रियों के लिए मानसिक के साथ-साथ शारीरिक पीड़ा भी लेकर आते हैं। विवाह होते ही लड़की से बच्चे की अपेक्षा की जाती है जिसका परिणाम अक्सर बच्चे के जन्म के समय बच्चे या माँ की मौत होती है। भारत में 18 वर्ष की आयु से पहले बच्चे को जन्म देते समय बड़ी संख्या में बच्चे मौत का शिकार हो जाते हैं और जो पैदा होते हैं उनका शारीरिक विकास सही ढंग से नहीं हो पाता। स्त्रियों को ज़िन्दगी भर के लिए मानसिक और शारीरिक तकलीफ़ झेलनी पड़ती है। स्त्रियाँ बच्चेदानी के रोग, कमज़ोरी तथा कई गम्भीर बीमारियों का शिकार होती हैं। एक लड़की की ज़िन्दगी को बचपन से गतिहीन और नीरस बनाने की प्रक्रिया चलती है। उसको अपना संसार परिवार तक ही सीमित करना पड़ता है। लड़की को बस एक पिता या पति की सम्पत्ति बना दिया जाता है।

आज सरकार द्वारा भले ही स्त्रियों की आज़ादी या इन पिछड़ी हुई मूल्य-मान्यताओं को रोकने के लिए कई कानून बना दिए गए हैं (बाल-विवाह रोकथाम बिल 1998, बाल विवाह रोकथाम बिल 2006 आदि)। इनमें बाल-विवाह करने या करवाने वाले को जेल या जुर्माने की सजा का प्रावधान है। लेकिन ये बस कागजों तक ही सीमित हैं क्योंकि तथ्यों से साफ पता चलता है कि स्त्रियों को बराबरी के अधिकार देने या आज़ादी के लिए उन्होंने कितने कदम उठाये हैं। बल्कि, प्रतिदिन कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो मौजूदा सरकार और समाज के के बच्चियों के प्रति व्यवहार को दर्शाते हैं। पूँजीवादी मीडिया खुलेआम सरकार से शह पाकर स्त्रियों को सामन्ती मूल्य-मान्यताओं के चौखटे में रहने के लिए प्रेरित करता है। भारत में 70 प्रतिशत स्त्रियाँ प्रतिदिन घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं, हर 20 मिनट बाद एक स्त्री बलात्कार का शिकार होती है और 80 प्रतिशत स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में शारीरिक छेड़छाड़ का शिकार होती हैं। तथ्य बताते हैं कि स्त्रियों की सुरक्षा, आज़ादी या बराबरी का मामला सरकार के लिए कोई बहुत गम्भीर बात नहीं है।

पूँजीवाद ने जनता को ग़ुलाम और पिछड़ा बनाये रखने के लिए तमाम तरह के सामन्ती मूल्य-मान्यताओं के साथ समझौता करके न सिर्फ़ उन्हें बनाये रखा है बल्कि लगातार बढ़ावा भी दे रहा है। इस पूँजीवादी समाज व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष चलाने के साथ ही पिछड़ी सोच और संस्कृति से भी लड़ना होगा। पहले के संघर्षों और सामाजिक परिवर्तन द्वारा स्त्रियों ने कुछ हद तक सम्मान से जीने का हक़ पाया है। बराबरी का हक़ पाने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था को ही बदलना होगा।

– बिन्नी

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2017 – जनता के लिए बची-खुची स्वास्थ्य सुविधाओं को भी बाज़ार के मगरमच्छों के हवाले कर देने का दस्तावेज़

2014 में जब देश में "राष्ट्रवादी" सरकार आयी थी, तो और बहुत सारे वादों के साथ–साथ स्वास्थ्य क्षेत्र में "युगप्रवर्तक" बदलाव लाने का वादा भी किया था। तक़रीबन एक वर्ष बाद सरकार को अपना यह वादा याद आया तो 2015 में राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का मसविदा बनाकर घोषणा की गयी, फिर दो वर्ष मसविदे को संशोधित करने में लगा दिये। मसविदे पर दो वर्षों की लम्बी मेहनत के बाद लोगों को उम्मीद थी कि नयी स्वास्थ्य नीति में स्वास्थ्य सुविधाओं को बेहतर बनाने के लिए ज़रूर कुछ-न-कुछ होगा, लेकिन नया तो क्या मिलना था, लोगों को जो कुछ पहले मिला हुआ था, वह भी छीनने की तैयारी है।

आज़ाद भारत की पहली स्वास्थ्य नीति आज़ादी के 36 वर्ष बाद 1983 में बनी थी। उस समय बड़े-बड़े ऐलान हुए, उद्देश्य तय किये गये, मगर हाल यह है कि जो उद्देश्य वर्ष 2000 तक हासिल करने की क़समें खायी गयी थीं, आज तक उनके नज़दीक भी नहीं पहुँचा गया। फिर 2002 में, वाजपेयी सरकार द्वारा स्वास्थ्य नीति में संशोधन किये गये और कहा गया कि स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए अधिक पैसा दिया जायेगा। स्वास्थ्य सुविधाओं की व्यवस्था को पुनःसंगठित करने की बात की गयी, लेकिन कुछ भी नहीं बदला। न तो स्वास्थ्य के लिए अधिक पैसे दिये गये और न ही व्यवस्था को ठीक करने के लिए कुछ किया गया। बल्कि बिल्कुल उल्टा हुआ, 2002 से लेकर अब तक निजी स्वास्थ्य क्षेत्र अब तक की सबसे तेज़ रफ़्तार से बढ़ा है, सरकार के पास पंजीकृत कुल ऐलोपैथिक डॉक्टरों में से महज़ 11 प्रतिशत सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था में हैं और बीमारी पर होने वाला ख़र्चा भारत में ग़रीबी के अहम कारणों में से एक बन गया है।

अब जब राष्ट्रवादी फूल अच्छी तरह से खिला हुआ है, तो फिर से नयी राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति लायी गयी है। 2015 के मसविदे में यह वादा किया गया था कि 'स्वास्थ्य को एक बुनियादी अधिकार' बनाया जायेगा और 'सबको स्वास्थ्य सुविधाएँ' का सिद्धान्त लागू किया जायेगा, लेकिन इससे मोदी सरकार एकदम मुक़र गयी है। स्वास्थ्य को 'बुनियादी अधिकार' और 'सबको स्वास्थ्य सुविधाएँ' की जगह नयी नीति में स्वास्थ्य सुविधाओं को "भरोसेमन्द" बनाने का जुमला उछाला गया है। सरकार का कहना है कि 'स्वास्थ्य को बुनियादी अधिकार' और 'सबको स्वास्थ्य सुविधाएँ' सम्भव बनाने के लिए व्यवस्था नहीं है, लेकिन व्यवस्था बनी क्यों नहीं और बनानी किसे है, इसके बारे में सरकार ने न तो कोई जवाब दिया है और न ही कोई योजना है। यानी स्वास्थ्य सुविधाओं को सबके लिए सुलभ बनाने के काम को अब नीतिगत और क़ानूनी तौर पर भी ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया है और सरकार हर तरह की जवाबदेही से निकलकर भाग गयी है। हालाँकि भारतीय संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के मुताबिक़ सभी के लिए स्वास्थ्य सुविधाएँ देना सरकार के कर्तव्यों में आता है।

2015 की स्वास्थ्य नीति के मसविदे में मोदी सरकार ने वादा किया था कि 2020 तक स्वास्थ्य सुविधाओं पर ख़र्च बढ़ाकर सकल घरेलू उत्पादन का 2.5% कर दिया जायेगा, फ़िलहाल यह 1% के इर्द-गिर्द रहता है। अब यह समय-सीमा बढ़ाकर 2025 कर दी गयी है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि विश्व स्तर पर यह ख़र्चा कुल घरेलू उत्पाद का औसतन 4.9% है (अर्थात 2025 तक हम वैश्विक औसत के भी आधे में पहुँच जायेंगे, वह भी अगर सरकार एक बार फिर न मुक़री तब!)। हमारे पड़ोसी श्रीलंका जैसे ग़रीब देश भी इस मामले में हमसे आगे हैं। जब ख़र्च की स्कीमें ऐसी हों तो मुफ़्त दवाइयाँ, मुफ़्त टेस्ट, मुफ़्त इमरजेंसी स्वास्थ्य सुविधाएँ देने की घोषणाओं में कितनी गम्भीरता होगी, यह समझने में किसी कम बुद्धि के व्यक्ति को भी कोई मुश्किल नहीं होगी। लेकिन मोदी और उसके स्वास्थ्य मन्त्री जे.पी. नड्डा चाहते हैं कि उनकी मुफ़्त घोषणाओं पर लोग यक़ीन करें। इस वर्ष के राष्ट्रीय बजट में वित्त मन्त्री जेटली ने यह भ्रम खड़ा करने की कोशिश की कि सरकार स्वास्थ्य पर ख़र्च बढ़ा रही है, लेकिन अगर हम पिछले 10 वर्षों का रिकॉर्ड देखते हैं तो यह कोशिश ख़ाली लिफ़ाफ़ा दिखायी देती है। 2015-2016 के केन्द्रीय बजट में स्वास्थ्य क्षेत्र के लिए दी गयी राशि में उससे पहले के वर्ष के मुक़ाबले 5.7% की कटौती कर दी गयी थी, 2016-2017 में 5% बढ़ाया गया और अब 2017-2018 के लिए कुछ और वृद्धि की गयी है, लेकिन 2017-2018 की यह आरक्षित राशि अब भी 2011-12 के स्वास्थ्य बजट से नीचे है। यह है वित्त मन्त्री की जादूगिरी!! ऊपर से, जो राशि बजट में रखी जाती है, वह पूरी ख़र्च नहीं की जाती; जैसे 2011-12 के वर्ष में 20,000 करोड़ रुपये में से 4,000 करोड़ रुपये से अधिक ख़र्चे ही नहीं गये। वैसे जो पैसे ख़र्च होते हैं, वे भी वास्तव में (नौकरशाहों-नेताओं के हिस्से निकाल कर) कहाँ होते हैं, यह सबको पता ही है।

इस नयी स्वास्थ्य नीति का सबसे घटिया पहलू निजी क्षेत्र के लिए राह साफ़ करना है। भारत में पहले ही स्वास्थ्य के कुल क्षेत्र में से 70% के क़रीब हिस्से पर निजी क्षेत्र का क़ब्ज़ा है जिनमें अपोलो, फ़ोर्टिस, मेदान्ता, टाटा जैसे बड़े कारपोरेट अस्पतालों से लेकर क़स्बों तक में खुले निजी नर्सिंग होम शामिल हैं। पिछले एक-डेढ़ दशक में कारपोरेट अस्पतालों का रिकॉर्ड-तोड़ फैलाव हुआ है, इन्होंने एक हद तक निजी नर्सिंग होमों को भी निगल लिया है। इसके साथ ही बची-खुची सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था के अन्दर भी निजी क्षेत्र की घुसपैठ बढ़ी है। ज़िला-स्तरीय अस्पताल, मेडिकल कॉलेज और बड़े मेडिकल संस्थानों में प्राइवेट-पब्लिक-पार्टनरशिप के नाम पर बहुत सारी सुविधाएँ निजी हाथों में सौंपी जा चुकी हैं, या सौंपने की तैयारी है। यह कैसे किया जाता है, इसकी कुछ मिसालें पंजाब के मेडिकल कॉलेजों में मिलती हैं। पटियाला के मेडिकल कॉलेज में एमआरआई स्कैन केन्द्र को सरकार ने एक निजी संस्थान को दे रखा है। चूँकि मेडिकल कॉलेज की इमारत में बने इस केन्द्र के मालिकों को दूसरे निजी स्कैन सेण्टरों की तरह डॉक्टरों को कट नहीं देना पड़ता, इसलिए इसके रेट कम हैं और सरकार इसकी सस्ती दरों को ऐसे पेश करती है, जैसे इसने कोई अद्भुत क़ारनामा कर दिखाया हो। जबकि सरकार को शर्म आनी चाहिए कि 4-5 करोड़ की मशीन लगाने पर तकनीकी स्टाफ़ का ख़र्चा उठाकर यह सुविधा बेहद कम दरों पर उपलब्ध करायी जा सकती है, मगर सरकार ऐसा करने की कोई इच्छा नहीं रखती। अमृतसर के मेडिकल कॉलेज में चलती स्कैन की दो मशीनों में से एक मशीन भी इसी तरह ठेके पर है। सारे पंजाब के सरकारी अस्पतालों और डिस्पेंसरियों में दवाइयों की सप्लाई (जितनी भी है) के लिए प्राइवेट कम्पनियों से दवाइयाँ ख़रीदी जाती हैं, क्योंकि दवाइयाँ बनाने वाले सरकारी संस्थान या तो बन्द किये जा चुके हैं, या बन्द जैसी हालत में हैं। सरकारी अस्पतालों में ऑपरेशन के समय मरीज़ को बेहोश करने के लिए कमीशन देकर प्राइवेट डॉक्टरों को बुलाया जाता है। और भी कई तरह की सुविधाओं को इसी तरह "ठेके पर देने" का नाम देकर निजीकरण किया जा चुका है। लगभग सारे राज्यों में, अधिक या कम, यही अमल जारी है।

लेकिन अभी भी काफ़ी कुछ है जिस पर निजीकरण की मार नहीं पड़ी, जैसे इन अस्पतालों की प्रयोगशालाएँ अभी निजी हाथों में नहीं गयीं, अल्ट्रासाउण्ड स्कैन और एक्सरे आदि जैसे छोटे स्कैन भी निजी हाथों से बचे हुए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इस स्तर के अस्पताल अभी कारपोरेट सेक्टर के सीधे नियन्त्रण में नहीं आये हैं। दूसरा, अभी तक प्राइमरी स्वास्थ्य केन्द्रों और डिस्पेंसरियों का ताना-बाना भी काफ़ी हद तक निजीकरण से अछूता है। कारपोरेट अस्पतालों की गिद्ध-नज़र इन पर लगी हुई है। 2015 के मसविदे में सरकार निजी क्षेत्र के अस्पतालों और डॉक्टरों द्वारा ग़लत ढंग से काम करने के बारे में बयान दे रही थी, अब वही लोग दूध के धुले हो गये हैं। 2017 की स्वास्थ्य नीति में कहा गया है कि प्राथमिक स्वास्थ्य सुविधाओं को पूरी तरह काम करने योग्य बनाने के लिए – ख़ासकर शहरी क्षेत्रों के उन लोगों तक पहुँच करने के लिए जिन्हें स्वास्थ्य सुविधाएँ नहीं मिलतीं, और मध्यवर्गीय आबादी को फ़ीस के बदले सुविधाएँ देने के लिए, सरकार हैल्थ एण्ड वेलनेस केन्द्र (फ़ैंसी क़िस्म के नाम सोचने में हमारे देश के नेताओं और अफ़सरों का दुनिया में कोई मुक़ाबला नहीं कर सकता) चलाने के लिए निजी क्षेत्र से पार्टनरशिप करेगी। यानी गाँवों में ऐसी कोई आबादी नहीं है, जिसे स्वास्थ्य सुविधाएँ नहीं मिलतीं। दूसरा, सरकार ख़ुद मानती है कि अभी तक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र भी ढंग से नहीं चले (देश के आज़ाद होने से 70 वर्ष बाद भी)। तीसरा, अब प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में 2-5-10 रुपये की पर्ची वाला ज़माना जाने वाला है। मध्यवर्गीय कौन होगा, इसकी परिभाषा तय नहीं। ख़ैर, हो सकता है कि ग़रीबी रेखा से ऊपर वाले सारे लोग मध्यवर्ग में शामिल कर दिये जायें। यहाँ हम यह बता दें कि भारत की बेशर्म सरकार उस व्यक्ति को ग़रीब नहीं मानती है जो प्रति महीना 960 रुपये (गाँव में) और 1410 रुपये (शहर में) ख़र्च सकता है (2014 में निर्धारित ग़रीबी रेखा के अनुसार)।

2017 की स्वास्थ्य नीति में यह भी कहा गया है कि सरकार निजी क्षेत्र के साथ भागीदारी करके जन स्वास्थ्य सुविधाओं की कमियों को पूरा करेगी, इसमें टेस्ट-स्कैन, ऐम्बुलैंस सुविधाएँ, ब्लड बैंक, पुनर्वास के साथ जुड़ी सुविधाएँ, तकलीफ़ घटाने वाली सुविधाएँ, मनोरोगियों के लिए सुविधाएँ, टैलीमैडीसन सुविधाएँ, कम होने वाली बीमारियों के इलाज की सुविधाएँ शामिल होंगी। यानी इनमें स्टाफ़ को छोड़कर बाक़ी सब कुछ निजी क्षेत्र में होगा। स्टाफ़ में ज़्यादातर हिस्सा ठेके द्वारा भर्ती हो रहा है, एक तरह वह भी निजी क्षेत्र ही है। मतलब साफ़ है कि सरकारी नाम तले निजी दुकानें। सरकार द्वारा गिनायी गयी कमियों को ठीक करने के लिए कोई भी योजना या इरादा कहीं दर्ज नहीं है, यानी निजी व्यवस्था पक्का काम है, कोई तात्कालिक योजना नहीं है। ऐसी कोशिशें पहले भी जारी हैं, राजस्थान, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में इन स्कीमों के लागू करने की कोशिशें हो रही हैं, लेकिन इन कोशिशों का लगातार विरोध हो रहा है। वास्तव में, राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017 का दस्तावेज़ लोगों को स्वास्थ्य देने के लिए नीति का दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि यह जन-स्वास्थ्य सुविधाओं का बचा-खुचा हिस्सा भी तबाह करने, पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था को निजी क्षेत्र के हाथों में देने, बहुसंख्यक लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएँ देने से बेशर्मी के साथ मना करने और पैसे वालों के लिए 'अति आधुनिक' स्वास्थ्य सुविधाएँ क़ायम करने और निजी अस्पतालों को खुलकर लूटने के लिए माहौल तैयार करके देने का दस्तावेज़ है। अम्बानियों-अडानियों की सरकार से और उम्मीद भी क्या की जा सकती है। असल में मौजूदा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में सभी लोगों को स्वास्थ्य सुविधाएँ देने का उद्देश्य पूरा करना न तो सम्भव है और न ही इस व्यवस्था का ऐसा कोई मक़सद ही है। जो जन-स्वास्थ्य व्यवस्था 1947 के बाद खड़ी की गयी थी, वह भी आज़ादी के बाद लोगों की उम्मीदों को बहुत जल्दी न टूटने देने के लिए और महामारियों को फैलने से रोकने के लिए बनायी गयी थी, जिनकी चपेट में अमीरों के भी आ जाने का ख़तरा बना रहता था। भारतीय पूँजीपतियों की भी उस समय इतनी औक़ात नहीं थी कि स्वास्थ्य क्षेत्र को मुनाफ़े के लिए लूट सकें, लेकिन 1991 के बाद परिस्थितियाँ एकदम बदल गयी हैं। अब भारतीय पूँजी यह समझ चुकी है (और उसकी औक़ात भी इतनी ही हो चुकी है) कि स्वास्थ्य क्षेत्र मुनाफ़ा कमाने का एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ कभी मन्दी नहीं आती, यह पूँजी निवेश का सबसे सुरक्षित क्षेत्र है (हालाँकि यह भी पूँजीपतियों की ग़लतफ़हमी ही है!)। 1991 के बाद से सरकारें लगातार जन-स्वास्थ्य व्यवस्था को तोड़ने, तबाह करने, ठेके पर देने और निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने में लगी हुई हैं। मोदी सरकार इसमें और बढ़-चढ़कर काम कर रही है, क्योंकि यह पूँजी की सबसे बेशर्म और वफ़ादार सेवक है।

– लखविन्दर

मध्य प्रदेश में रोज़ाना 64 बच्चों की मौत

मध्य प्रदेश जो भारत का दूसरा बड़ा राज्य है, 2015-16 के दौरान यहाँ हर रोज़ 64 बच्चों की मौत का आँकड़ा सामने आया है। नवजात बच्चों की मौत का यह आँकड़ा किसी अफ़्रीकी देश के मुक़ाबले भी बदतर और भयानक है।

पहले तो मध्य प्रदेश की भाजपा सरकार ने 2015-16 वर्ष के दौरान श्योपुर ज़िले में कुपोषण से हुई बच्चों की मौतों के आँकड़े तोड़-मरोड़ कर पेश किये। महिला और बाल विकास मन्त्री अर्चना चिटनिस ने विधान सभा में दावा किया था कि इस वर्ष के दौरान किसी भी बच्चे की मौत कुपोषण से नहीं हुई। जबकि स्वास्थ्य विभाग ने हाईकोर्ट में रिपोर्ट सौंपी थी कि इस ज़िले में 2015-16 के दौरान 116 बच्चों की मौत कुपोषण की वजह से हुई है। जब झूठे आँकड़े पेश करने के लिए सरकार की चारों ओर से थू-थू हुई तो सरकार को सच्चाई पेश करनी पड़ी। महिला और बाल विकास मन्त्री अर्चना ने राज्य विधान सभा में यह भी माना कि 0-6 वर्ष तक के 25,440 बच्चे एक वर्ष के अन्दर दस्त और खसरे जैसे रोगों के कारण अपनी जान गँवा देते हैं।

मध्य प्रदेश भारत में ग़रीबी रेखा के नीचे सबसे ज़्यादा आबादी वाले 14 राज्यों में शामिल है और सबसे अधिक मृत्यु दर वाले राज्यों में से एक है। यहाँ 1000 के पीछे 52 बच्चों की मौत एक वर्ष की आयु से पहले ही हो जाती है और नवजात बच्चों का वज़न ढाई किलोग्राम से भी कम होता है। भारत में 31 प्रतिशत बच्चों का क़द आयु के अनुसार कम है और 42 प्रतिशत बच्चों का वज़न भी उनकी आयु के मुताबिक़ कम है। भारत के कुल कुपोषित बच्चों में 60 प्रतिशत मध्यप्रदेश और झारखण्ड के हैं।

बच्चों के स्वास्थ्य के लिए विज्ञान के मुताबिक़ तीन वर्ष तक के बच्चे को प्रतिदिन 300 मिलीग्राम दूध की ज़रूरत होती है, जबकि उन्हें सिर्फ़ 80 मिलीग्राम दूध ही मिल पाता है। परिणामस्वरूप कुपोषण के कारण उनका शरीर बीमारियों का मुक़ाबला नहीं कर पाता। हैज़ा तथा बुख़ार जैसी बीमारियों से बच्चों की मृत्यु दर लगातार बढ़ती जाती है।

बच्चों की हो रही इन मौतों को हम प्राकृतिक मौत नहीं कह सकते, बल्कि ये क़त्ल हैं, जहाँ एक ओर अनाज गोदामों में पड़ा-पड़ा सड़ रहा है, वहीं दूसरी ओर ये हालात हैं कि बच्चे जन्म लेने से पहले या पैदा होते ही मौत के मुँह में चले जा रहे हैं।

विकास के बड़े-बड़े दावे करने वाली भाजपा का ध्यान जनकल्याण की ओर न होकर गौरक्षा जैसे झूठे मुद्दों तक केन्द्रित है। मध्य प्रदेश जैसे राज्यों के हालात भाजपा सरकार के विकास के दावों का असली चेहरा पेश करते हैं।

– बलजीत

बेहिसाब बढ़ती महँगाई यानी ग़रीबों के ख़िलाफ सरकार का लुटेरा युद्ध

(पेज 1 से आगे)

के लिए दूध का इस्तेमाल बन्द हो गया है। महँगाई के कारण बहुत से लोग बस आदि के बजाय कई-कई किलोमीटर पैदल चलकर काम पर जाते हैं। आज ऐसी हालत देश के लगभग सभी राज्यों में है। नोटबन्दी और उसके बाद हुई छँटनी ने देश के करोड़ों मेहनतकशों पर मुसीबतों का पहाड़ और भी वज़नी बना दिया है।

ऐसी भीषण महँगाई के पहले ही हालत यह थी कि देश की तीन-चौथाई आबादी के भोजन में विटामिन और प्रोटीन जैसे ज़रूरी पौष्टिक तत्व लगातार कम होते जा रहे थे। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री उत्सा पटनायक ने एक अध्ययन में बताया है कि देश में प्रति व्यक्ति औसत खाद्य उपलब्धता बंगाल में 1942-43 में आये भीषण अकाल के दिनों के बराबर पहुँच चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुतेरे परिवारों को दोनों वक्त या सप्ताह के सातों दिन भरपेट खाना नहीं मिलता। मनमोहन सिंह सरकार ने स्वीकार किया था कि रोज़ लगभग दस हज़ार बच्चे कुपोषण और उससे होने वाली बीमारियों के कारण मर जाते हैं। विशेषज्ञों के अनुसार वास्तविक संख्या इससे बहुत अधिक है।

2012 के न्यूट्रीशन ब्यूरो के ग्रामीण भारत के आखिरी सर्वे के अनुसार 1979 के मुकाबले औसतन हर ग्रामीण को 550 कैलोरी ऊर्जा, 13 ग्राम प्रोटीन, 5 मिग्रा आइरन, 250 मिग्रा कैल्सियम और 500 मिग्रा विटामिन ए प्रतिदिन कम मिल रहा है। इसी तरह 3 वर्ष से कम की उम्र के बच्चों को 300 मिलीलीटर प्रतिदिन की आवश्यकता के मुकाबले औसतन 80 मिली दूध ही प्रतिदिन मिल पा रहा है। सर्वे यह भी बताता है कि जहाँ 1979 में औसतन दैनिक ज़रूरत के लायक प्रोटीन, ऊर्जा, कैल्शियम तथा आइरन उपलब्ध था, वहीं 2012 आते-आते सिर्फ़ कैल्शियम ही ज़रूरी मात्रा में मिल पा रहा है जबकि प्रोटीन दैनिक ज़रूरत का 85%, ऊर्जा 75% तथा आइरन मात्र 50% ही उपलब्ध है। सिर्फ़ विटामिन ए ही एक ऐसा पोषक तत्व है जिसकी मात्रा 1979 के 40% से 1997 में बढकर 55% हुई थी लेकिन वह भी 2012 में घटकर दैनिक ज़रूरत का 50% ही रह गयी। इसी का नतीजा है कि सर्वे के अनुसार 35% ग्रामीण स्त्री-पुरुष कुपोषित हैं और 42% बच्चे मानक स्तर से कम वज़न वाले हैं। और यह तो पूरी आबादी का औसत आँकड़ा है, जनसंख्या के ग़रीब हिस्से में तो हालात और भी बेहद ख़राब हैं। आजीविका ब्यूरो नाम के संगठन द्वारा दक्षिण राजस्थान के गाँवों में किये गये एक सर्वे के अनुसार आधी माँओं को दाल नसीब नहीं हुई थी तथा एक तिहाई को सब्ज़ी। नतीजा, आधी माँएँ और उनके बच्चे कुपोषित थे।

दिल्ली और मुम्बई सहित शहरों की झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाली एक चौथाई अर्थात 10 करोड़ अत्यन्त ग़रीब लोग भी भूख और कुपोषण का उतना ही शिकार हैं। और जैसे-जैसे हम भारत के आर्थिक महाशक्ति बनने की चर्चा सुनते हैं भूख पीड़ित लोगों की तादाद घटने के बजाय बढ़ती जाती है। यूनीसेफ के अनुसार भारत में हर साल 5 वर्ष से कम आयु के 10 लाख बच्चे कुपोषण सम्बन्धी कारणों से मृत्यु का शिकार होते हैं। सामान्य से कम वज़न वाले 5 साल तक के बच्चों की संख्या का विवरण देखें तो पता लगेगा कि विकसित देशों को तो भूल ही जाइये, ब्राज़ील, चीन, दक्षिण अफ्रीका जैसे तीसरी दुनिया के देश भी छोड़िये, शहरी बच्चों के कुपोषण के मामले में हम बांग्लादेश-पाकिस्तान से भी गये गुज़रे हैं! भारत में यह तादाद जहाँ 34% है वहीं बांग्लादेश में 28%, पाकिस्तान में 25%, दक्षिण अफ्रीका में 12%, ब्राज़ील में 2% और चीन में 1% है!

भारत की राजधानी दिल्ली और आर्थिक राजधानी कहे जाने वाले मुम्बई की स्थिति को थोड़ा और विस्तार से जानते हैं क्योंकि यहाँ के बारे में ज़्यादा जानकारी उपलब्ध है। इससे बाकी शहरों की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। इन दोनों की कुल जनसंख्या के आधे और करीब 2.40 करोड़ लोग स्लम या झोंपड़पट्टी में रहते हैं जो भारी भीड़, ग़रीबी और कुपोषण के केन्द्र हैं।

अधिकांश मज़दूर परिवारों में बच्चों के लिए भी दूध नहीं नसीब होता। मज़दूर औरतें जाकर अपने बच्चे के 'बॉडी मास इंडेक्स' की जाँच तो नहीं करा सकती हैं, लेकिन देखकर ही जाना जा सकता है कि ये बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं। सरकारी पैमाने से औद्योगिक मज़दूर को प्रतिदिन कम से कम 2700 कैलोरी भोजन मिलना चाहिए। भारी काम करने वालों को कम से कम 3000 कैलोरी मिलना चाहिए। लेकिन वास्तव में अधिकतर मज़दूर रोज़-रोज़ जो खाना खाते हैं उससे पेट भले ही भर जाये, मगर दिन भर काम करने के लिए ज़रूरी सन्तुलित और पौष्टिक भोजन वह नहीं होता। ऊपर से, इन मज़दूरों को कभी भी पूरा आराम नहीं मिलता। ज़्यादातर मज़दूर रोज़ 12-13 घण्टे काम करते हैं, और अक्सर हफ्ते में सातों दिन बिना छुट्टी के काम करते हैं। ऐसे में शरीर अन्दर ही अन्दर कमज़ोर होता जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के पैमाने से अगर किसी इलाक़े की 60 प्रतिशत आबादी कुपोषण की शिकार है, तो उस इलाक़े को "अकालग्रस्त" घोषित करके राहत के विशेष उपाय करने चाहिए। इस पैमाने के हिसाब से तो देश की राजधानी दिल्ली की आधी से ज़्यादा आबादी को तत्काल "अकालग्रस्त" घोषित किया जाना चाहिए! निश्चित ही, भारत सरकार ऐसा नहीं करेगी। क्योंकि ऐसा करने का मतलब होगा यह स्वीकार करना कि तथाकथित विकास की उसकी नीतियाँ ऊपर की 15 प्रतिशत आबादी के लिए ख़ुशहाली का स्वर्ग और बाकी जनता के लिए बदहाली का नर्क पैदा कर रही हैं। देश के करीब 60 प्रतिशत बच्चे खून की कमी से ग्रस्त हैं और 5 साल से कम उम्र के बच्चों के मौत के 50 फीसदी मामलों का कारण कुपोषण होता है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार 63 फीसदी भारतीय बच्चे अक्सर भूखे सोते हैं और 60 फीसदी कुपोषण ग्रस्त हैं। दिल्ली में अन्धाधुन्ध "विकास" के साथ-साथ झुग्गियों या कच्ची बस्तियों में रहने वालों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ी है और लगभग 70 लाख तक पहुँच चुकी है। इन बस्तियों में न तो साफ पीने का पानी है और न शौचालय और सीवर की उचित व्यवस्था है। जगह-जगह गन्दा पानी और कचरा इकट्ठा होकर सड़ता रहता है, और पहले से ही कमज़ोर लोगों के शरीर अनेक बीमारियों का शिकार होते रहते हैं।

दरअसल कीमतें बढ़ने के लिए पूँजीवादी नीतियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। महँगाई की असली वजह यह है कि खेती की उपज के कारोबार पर बड़े व्यापारियों, सटोरियों और कालाबाज़ारियों का कब्ज़ा है। ये ही जिन्सों (चीज़ों) के दाम तय करते हैं और जानबूझकर बाज़ार में कमी पैदा करके चीज़ों के दाम बढ़ाते हैं। पिछले कुछ वर्षों में कृषि उपज और खुदरा कारोबार के क्षेत्र को बड़ी कम्पनियों के लिए खोल देने के सरकार के फैसले से स्थिति और बिगड़ गयी है। अपनी भारी पूँजी और ताक़त के बल पर ये कम्पनियाँ बाज़ार पर पूरा नियन्त्रण कायम कर सकती हैं और मनमानी कीमतें तय कर सकती हैं। मोदी सरकार आने के बाद दालों की कीमतें आसमान पर पहुँच जाने का बड़ा कारण मोदी के चहेते पूँजीपति अडानी की कम्पनी द्वारा किया गया करीब ढाई लाख करोड़ का घोटाला था।

अदानी ने सिंगापुर की विलमार कम्पनी के साथ एक संयुक्त उद्यम की शुरुआत की जिसका मकसद था भारत में खाद्य पदार्थों की बिक्री करना। इसका नाम अदानी-विलमार रखा गया जो भारत में 'फार्च्यून' के नाम से खाद्य पदार्थों की बिक्री करती है। अदानी ने पूरे भारत में कृषि प्रधान राज्यों के कृषि उत्पादों की भारी मात्रा जमाखोरी की ताकि बाद में महँगे दाम में बेच सके। मगर समस्या यह थी कि एक तय सीमा से अधिक खाद्य पदार्थों को इकठ्ठा करके नहीं रखा जा सकता। तब उनके चहेते मोदी काम आये और मोदी सरकार ने अरहर, मूँग और उरद की दाल के भण्डारण की मात्रा पर से सीमा एक सरकारी कानून के तहत हटाकर अदानी की मुश्किल आसान कर दी। उसके बाद अदानी की कम्पनी ने प्रतिदिन 300 टन दाल मात्र 30 रुपये प्रति किलो के दाम से इकठ्ठा करना शुरू किया। कम्पनी ने 100 लाख टन से ज़्यादा दालों से अपने गोदामों को भर दिया। अब जब बाज़ार में दाल की किल्लत हो गयी तो अदानी ने 30 रुपये में खरीदी हुई दाल 150 से 200 रुपये में बेचकर हज़ारों करोड़ रुपये बना लिये। ये तो महज़ एक उदाहरण है।

पूँजीवादी नीतियों के कारण अनाजों के उत्पादन में कमी आती जा रही है। भारत ही नहीं, पूरी दुनिया में आज खेती संकट में है। पूँजीवाद में उद्योग के मुकाबले खेती का पिछड़ना तो लाज़िमी ही होता है लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर की नीतियों ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया है। अमीर देशों की सरकारें अपने फार्मरों को भारी सब्सिडी देकर खेती को मुनाफ़े का सौदा बनाये हुए हैं। लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में सरकारी उपेक्षा और पूँजी की मार ने छोटे और मझोले किसानों की कमर तोड़ दी है। साम्राज्यवादी देशों की एग्रीबिज़नेस कम्पनियों और देशी उद्योगपतियों की मुनाफ़ाख़ोरी से खेती की लागतें लगातार बढ़ रही हैं और बहुत बड़ी किसान आबादी के लिए खेती करके जी पाना मुश्किल होता जा रहा है। इसका सीधा असर उन देशों में खाद्यान्न उत्पादन पर पड़ रहा है।

मेहनतकश जनता की मज़दूरी में लगातार आ रही गिरावट के कारण उसकी खरीदने की शक्ति कम होती जा रही है। दिहाड़ी पर काम करने वाली लगभग 50 करोड़ आबादी आज से 10 साल पहले जितना कमाती थी आज भी बमुश्किल उतना ही कमा पाती है जबकि कीमतें दोगुनी-तीन गुनी हो चुकी हैं। इससे ज़्यादा मानवद्रोही बात और क्या हो सकती है कि जिस देश में आज भी करोड़ों बच्चे रोज़ रात को भूखे सोते हैं वहाँ 35 से 40 प्रतिशत अनाज गोदामों और रखरखाव की कमी के कारण सड़ जाता है। एक्सप्रेस-वे, अत्याधुनिक हवाईअड्डों, स्टेडियमों आदि पर लाखों करोड़ रुपये खर्च करने वाली सरकारें आज तक इतने गोदाम नहीं बनवा सकीं कि लोगों का पेट भरने के लिए अनाज को सड़ने से बचाया जा सके।

महँगाई पूँजीवादी समाज में खत्म हो ही नहीं सकती। जब तक चीज़ों का उत्पादन और वितरण मुनाफा कमाने के लिए होता रहेगा तब तक महँगाई दूर नहीं हो सकती। कामगारों की मज़दूरी और चीज़ों के दामों में हमेशा दूरी बनी रहेगी। मज़दूर वर्ग सिर्फ अपनी मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के लिए लड़कर कुछ नहीं हासिल कर सकता। वह लड़कर पूँजीपति से थोड़ी मज़दूरी बढ़वाने में कामयाब भी हो जाता है तो पूँजीपति चीज़ों के दाम बढ़ाकर फिर उसे लूट लेता है। यह सिलसिला लगातार चलता रहता है। मज़दूर की हालत वहीं की वहीं बनी रहती है। इसलिए मज़दूरों को मज़दूरी बढ़ाने के लिए लड़ने के साथ-साथ मज़दूरी की पूरी व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए भी लड़ना होगा।

भारत में सूचना तकनीक (आईटी) क्षेत्र के लाखों कर्मचारियों पर लटकी छँटनी की तलवार

(पेज 13 से आगे)

पर भी पड़ेगा जिससे क़र्ज़ लेकर यह वर्ग कार, घर और ख़ुशहाली के और साधनों का आनन्द ले रहा था। यही वह वर्ग है जिसकी आर्थिक तरक़्क़ी पर रिटेल, बैंकिंग, रीयल एस्टेट, आटोमोबाइल क्षेत्र काफ़ी हद तक निर्भर रहा है। इन क्षेत्रों पर भी इसके बुरे प्रभाव की सम्भावनाएँ जतायी जा रही हैं।

"अचानक" आकर खड़े हुए मौजूदा खतरे को लेकर सरकार, कार्पोरेट और मौजूदा व्यवस्था के सेवक बौद्धिक वर्ग द्वारा अपने-अपने तर्क पेश किए जा रहे हैं। सबसे मुख्य तर्क जो पेश किया जा रहा है वह है ऑटोमेशन का। यह प्रचार किया जा रहा है कि नई तकनीक आने से जहाँ 10 लोगों की ज़रूरत थी वहाँ अब सिर्फ 3 की है। कार्पोरेट मुनाफा बढ़ाने और मुकाबले में टिके रहने के लिए इसे जरूरी मानता है। सरकार के पास भी इसका कोई ठोस हल नहीं है। मीडिया में चल रही चर्चाओं में भी यह माना जा रहा है कि नई तकनीक को रोका नहीं जा सकता लेकिन लाखों की संख्या में अपना रोज़गार गवां रहे इंजीनियरों के लिए कोई हल भी नहीं मिल रहा। और यह हल मिल भी नहीं सकता क्योंकि इन सारी चर्चाओं में जो चीज़ गायब है वह है मुनाफे पर टिकी यह मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था। जिसमें पूँजीवाद के लिए ज़रूरी है कि मुकाबले में टिके रहने के लिए अपनी लागत कम करे। ऐसा वह या तो वेतन कम करके कर सकती है या नई तकनीक लाकर कम से कम श्रमिकों से अधिक उत्पादन करवाकर। नहीं तो यह भी हो सकता है कि नई तकनीक से श्रमिकों के काम के घण्टे घटाए जाने से अधिक से अधिक लोगों को रोजगार मुहैया करवाया जा सके। तकनीक जिसे एक दैत्य की तरह पेश किया जा रहा है, उसे मनुष्य के लिए वरदान के रूप में, उसकी ज़िन्दगी आसान करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन क्योंकि मुनाफा इस व्यवस्था की मुख्य चालक शक्ति इसलिए किसी पूँजीपति से, उसकी मैनेजिंग कमेटी–सरकार–से यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह ऐसा करेगी। इसलिए मौजूदा समस्या के हल के लिए इस व्यवस्था के सेवकों द्वारा दौड़ाए जा रहे अकल के घौड़े इस व्यवस्था के अन्दर ही चक्कर लगा-लगा कर हाँफ रहे हैं। ''उजरती श्रम और पूँजी'' में कार्ल मार्क्स की कही यह बात मौजूदा हालात पर पूरी तरह लागू होती है -

"...इस युद्ध की विलक्षणता यह है कि इसकी लड़ाइयाँ श्रम की फौज को भर्ती करने से अधिक निकालने से जीती जाती हैं। जनरल, पूँजीपति, एक दूसरे से इस बात में मुकाबला करते हैं कि उनमें से कौन उद्योग के सबसे अधिक सिपाहियों को निकाल सकता है।''

आधार पर सरकारी ज़बर्दस्ती की वजह क्या है?

(पेज 1 से आगे)

में एक बार दिया जाने वाला जीवित होने का सर्टिफ़िकेट देने से काम नहीं चलेगा, बल्कि उन्हें ख़ुद बैंक, आदि में जाकर हाथ की छाप को मशीन द्वारा सत्यापन करा कर ख़ुद को जीवित होने का प्रमाण देना होगा। लेकिन पेंशनरों की एक बड़ी संख्या अत्यन्त वृद्ध और बीमारी से अशक्त होती है उनके लिए पहले आधार बनवाना और फिर बैंक जाकर अपने जीवित होने का सत्यापन कराना बेहद मुश्किल होगा। इस वृद्धावस्था में कुछ के हाथ तो इस जैविक सूचना इकट्ठा और सत्यापित करने में भी असमर्थ होंगे। नतीजा यह कि वे जीवन भर की मेहनत के बाद पायी अपनी ही कमाई की बचत से प्राप्त पेंशन के सहारे से भी सबसे अधिक ज़रूरत के वक़्त वंचित कर दिये जायेंगे। लेकिन मौजूदा सत्ताधारी इसे अन्याय और लूट न कहकर बचत बता रहे हैं। यह सिर्फ़ एक राज्य की स्थिति है, सम्पूर्ण देश में ऐसी संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है।

यह स्थिति तो सरकारी नौकरी में रह चुके तुलनात्मक रूप से शिक्षित और सक्षम व्यक्तियों की है। गाँवों में वृद्धावस्था पेंशन पाने वाले ग़रीब, अशिक्षित, कमज़ोर व्यक्तियों की हालत क्या होगी जिनके लिए शहर में बैंक जाना भी मुश्किल है। सिर्फ़ राजस्थान में ही जब सामाजिक सुरक्षा पेंशन को आधार से जोड़ा गया तो जिनके पास आधार नहीं था, या जिनकी जानकारी में ग़लतियाँ थीं, ऐसे 10 लाख से अधिक लोगों को मृत या डुप्लीकेट कहकर उनकी पेंशन बन्द कर दी गयी। लेकिन जब शिकायतों के बाद कुछ सामाजिक संगठनों ने जाँच की तो पाया गया कि इनमें से बहुसंख्या मृत नहीं बल्कि जीवित थे। लेकिन ये सब लोग अत्यन्त ग़रीब, वृद्ध, असहाय, विधवा महिलाएँ, आदि थे, जिन्हें प्रशासनिक तन्त्र ने एक झटके में 500 रुपये महीना पेंशन से वंचित कर दिया। नवभारत टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार बिहार में एक गाँव का नाम पानापुर करायत है, लेकिन उस गाँव में आधार बनाने वालों ने सब आधार के पतों में उसका नाम पानापुर करैत कर दिया। अब वृद्धावस्था पेंशन वाले विभाग ने पता मेल न खाने के कारण इस गाँव के सब वृद्धों की पेंशन रोक दी है।

10 जुलाई के कैच न्यूज़ में झारखण्ड की सार्वजनिक राशन प्रणाली पर आधार के प्रभाव के बारे में किये गये एक सर्वे की विस्तृत रिपोर्ट के अनुसार इसने राशन वितरण में पहले से मौजूद समस्याओं के साथ नयी परेशानियों को जोड़कर एक बड़ी संख्या में ग़रीब लोगों को सस्ते सार्वजनिक राशन की सुविधा से वंचित कर दिया है। रजिस्टर में एण्ट्री के बावजूद राशन न देने या कम मात्रा में देने की समस्या तो आधार से हल होने का सवाल ही नहीं था, क़रीब 15% और लोग हाथ की छाप की जैविक सूचना के सत्यापन न होने से हर महीने राशन से वंचित हो रहे हैं, क्योंकि कठोर श्रम से घिसे हाथों का सत्यापन करने में मशीनें असमर्थ हैं। जिन लोगों को राशन मिल भी रहा है, उन्हें भी नेटवर्क या बिजली न होने, मशीन की खराबी या सर्वर डाउन होने के कारण अक़्सर एक से ज़्यादा बार चक्कर लगाने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है अर्थात एक और मज़दूरी से हाथ धोना दूसरे आने-जाने का अतिरिक्त ख़र्च वहन करने के मज़बूरी। इसके अतिरिक्त वे लोग हैं जो किसी वजह से आधार नहीं बनवा पाये हैं। इनको तो अब प्रशासनिक व्यवस्था द्वारा जीवित नागरिक होने की मान्यता ही नहीं दी जा रही है।

स्वयं सरकारी आँकड़ों के अनुसार अब तक 115 करोड़ आधार बनाये गये हैं। स्वाभाविक तौर पर ही इसमें से कुछ व्यक्तियों की मृत्यु हो चुकी है और 86 लाख आधार रद्द भी किये गये हैं। भारत की जनसंख्या अभी 130 करोड़ से अधिक है। अर्थात लगभग 20 करोड़ नागरिकों के पास आधार नहीं है। ये निर-आधार लोग कौन हैं? आधार की शुरुआत के समय कहा गया था कि जिन के पास कोई पहचानपत्र नहीं हैं, वे कल्याणकारी योजनाओं के लाभ से वंचित रह जाते हैं और आधार के द्वारा उन्हें पहचानपत्र देने से वे भी इन योजनाओं का लाभ ले सकेंगे। लेकिन आधार बनाते समय पहले से कोई पहचानपत्र होना ही एक आवश्यकता है तो इन लोगों का आधार भी नहीं बनता। हालाँकि परिचयदाता के द्वारा भी आधार देने का प्रावधान है, लेकिन उस तरह से मात्र 2 लाख अर्थात नगण्य आधार ही आज तक जारी हुए हैं। इस तरह जो सबसे ग़रीब, असहाय और कमज़ोर लोग हैं तथा सरकारी योजनाओं के लाभ से पहले ही वंचित हैं, उन्हें अब इससे पूरी तरह बाहर कर दिया गया है। अब तो राशनकार्ड हो या पेंशन हर जगह इन लोगों को फ़र्ज़ी या मृत घोषित कर इनके नामों को इन योजनाओं के लाभार्थियों की सूची में से ही काट दिया जा रहा है। इस प्रकार आधार देश के ग़रीब लोगों को जो थोड़ी-बहुत सरकारी कल्याणकारी योजनाएँ हैं भी, उनके भी लाभ से वंचित करने का एक बड़ा औज़ार बन गया है।

जहाँ तक आधार के द्वारा विभिन्न लाभकारी योजनाओं के स्थान पर सीधे कैश देने का सवाल है, उसमें आधार क्या कर सकता है, व्यक्ति की सही पहचान की बात को अगर मान भी लिया जाये तो। किस व्यक्ति को फ़ायदा दिया जाये यह तय करने का काम तो उसी राजनीतिक-प्रशासनिक तन्त्र का है जिसका अभी है। फिर यह कैश वितरण के लिए बैंक का एजेण्ट और एक बिचौलिया बन जाता है जो आधार के सत्यापन के ज़रिये कैश देता है। इसमें कुछ स्वचालित नहीं है और लूट-खसोट का तन्त्र न सिर्फ़ ज्यों का त्यों है, बल्कि आधार के ज़रिये लाभ के अधिकारी को परेशान कर लाभ से वंचित करने के बहाने उनके पास और बढ़ जाते हैं। झारखण्ड, दिल्ली, छत्तीसगढ़, गुजरात सब राज्यों में जहाँ भी इसे ज़रूरी बनाया गया है, वहाँ न सिर्फ़ इससे कार्यकुशलता घटी है, बल्कि यह सार्वजनिक सेवाओं से ग़रीब और असहाय व्यक्तियों - आदिवासियों, दलितों, वृद्धों, महिलाओं-विधवाओं, अपंगों - को वंचित करने का ज़रिया बन गया है तथा इन सेवाओं में भ्रष्टाचार और चोरी को बढ़ा रहा है।

वैसे तो भ्रष्टाचार व चोरी को रोकने के नाम पर लाये गये आधार का अपना पूरा ढाँचा ही भ्रष्टाचार पर टिका है। 12 जुलाई के हिन्दुस्तान टाइम्स की रिपोर्ट के अनुसार अब तक आधार बनाने वाली साढ़े 6 लाख एजेंसियों में से 34 हज़ार से अधिक को भ्रष्ट और जालसाजीपूर्ण गतिविधियों में लिप्त पाया गया है। इसमें फ़र्ज़ी दस्तावेज़ पर आधार बनाना, पैसा लेकर पता बदलना, आदि शामिल हैं। आधार बनवाने के लिए दिये गये दस्तावेज़ इनके पास ही छोड़ दिये गये हैं, जिनका दुरुपयोग करने में इनके ऊपर कोई रोकथाम नहीं है। इससे भी बढ़कर जो हाथ और आँखों की जैविक जानकारी आधार बनवाने के इन्होंने एकत्र की थी, प्रतिलिपि भी इनके पास ही छोड़ दी गयी है, जिसका इस्तेमाल ये दूसरों के नाम पर कर सकते हैं। इसी तरह जब रिलाइंस जिओ या किसी बैंक को आधार सत्यापन के लिए हाथ स्कैन कराया जाता है तो उनके पास भी यह रह जाता है और वे इसको पुनः उपयोग कर सकते हैं। ऐसे मामले पहले ही सामने आ चुके हैं। उपरोक्त रिपोर्ट में ही लातेहार, झारखण्ड के मामले का ज़िक्र है कि जब एक बुज़ुर्ग पति-पत्नी बैंकिंग एजेण्ट के पास अपनी पेंशन का पैसा निकालने गये तो पता चला कि वह तो पहले ही निकाला जा चुका है। ख़ुद आधार अथॉरिटी के अनुसार सिर्फ़ छोटी निजी एजेंसियाँ ही नहीं एक्सिस बैंक, देना बैंक, बैंक ऑफ़ इण्डिया और एनएसडीएल जैसे बड़े बैंक और संस्थाएँ इन भ्रष्ट गतिविधियों में लिप्त पाये गये हैं। इससे आधार द्वारा भ्रष्टाचार और चोरी को समाप्त करने के मक़सद की बात पूरी तरह ग़लत सिद्ध होती है।

इस प्रकार भ्रष्टाचार में कमी नहीं बल्कि सबसे ग़रीब, वंचित लोगों को इन योजनाओं के लाभ से वंचित करना ही आधार से होने वाली बचत का मुख्य आधार है और सरकार बता रही है कि यही ग़रीब लोग ही चोरी कर रहे थे, जिन्हें अब इससे रोक दिया गया है। यह ऐसी शासन व्यवस्था ही कर सकती है जो सबको स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध न होने को समस्या नहीं मानती, बल्कि उसकी नज़र में जो लोग बग़ैर पहचान का सबूत दिये इलाज करवाना चाहते हैं, वे मरीज समस्या हैं। ऐसी हुक़ूमत के लिए पर्याप्त मात्रा में भोजन की अनुपलब्धता और बच्चों में बढ़ता कुपोषण समस्या नहीं है, बल्कि बग़ैर पहचान का सबूत दिये स्कूल में मिड डे मील लेने आ गये बच्चे समस्या हैं। यह सिर्फ़ ऐसी हुक़ूमत कर सकती है जो ग़रीब, मेहनतकश लोगों की ग़रीबी का कारण वर्तमान व्यवस्था में निहित शोषण को नहीं मानती, बल्कि उसकी नज़र में ये सब लोग काहिल, कामचोर, भ्रष्ट हैं जो मेहनती, प्रतिभाशाली पूँजीपतियों के पुरुषार्थ से कमाये धन को मिड डे मील, राशन और इलाज आदि के ज़रिये लूट लेना चाहते हैं। इसलिए यह हुक़ूमत ऐसी ताक़त चाहती है कि वह जब जिसे अपराधी या सन्देहास्पद माने, उसकी पहचान कर उसे ये सुविधाएँ लेने के बहाने इस तथाकथित लूट से रोक सके।

निगरानी तन्त्र

साथ ही बैंक खातों से लेकर मोबाइल फ़ोन तक में आधार को ज़रूरी करना बताता है कि यह एक ऐसी निगरानी व्यवस्था भी है जो देश के हर नागरिक को हर समय उसके चाहे बिना ही पहचान कर सके, उसकी हर गतिविधि पर नज़र रख सके और जहाँ, जब चाहे उसे किसी गतिविधि से रोक सके, उससे ख़फ़ा हो जाये तो उसका राशन, वेतन, पेंशन, स्कूल में बच्चे के दाखिले, अस्पताल में इलाज, मोबाइल पर बात करने, इण्टरनेट के ज़रिये कुछ करने-पढ़ने, पुस्तकालय से कोई किताब लेने, कहीं जाने के लिए ट्रेन/बस का टिकट लेने अर्थात किसी भी सुविधा से वंचित कर सके। आधार असल में सर्वाधिक वंचित ज़रूरतमन्दों को लाभकारी योजनाओं के फ़ायदे से वंचित करने और सरकारी तन्त्र के क़रीबियों को फ़ायदा पहुँचाने का औजार तो है ही, साथ में यह नागरिकों पर निगहबानी और जासूसी करने का तन्त्र है जो न सिर्फ़ हमारी निजता का हनन करता है बल्कि हमारे जनतान्त्रिक अधिकारों को कुचलने, गला घोंटने का फन्दा तैयार कर रहा है। न सिर्फ़ सारे सरकारी कल्याण कार्यक्रम, जिनमें पहले से ही बहुत सी खामियाँ थीं, अब पूरी तरह बरबाद किये जा रहे हैं बल्कि हमारे दैनन्दिन जीवन के हर क्षेत्र पर सरकारी तन्त्र का शिकंजा कसने और जनतान्त्रिक आज़ादी और अभिव्यक्ति का गला घोंटने की भी तैयारी की जा रही है।

न्यायपालिका की भूमिका

यहीं पर हम उच्चतम न्यायालय की भूमिका पर भी ग़ौर करते हैं जिसे जनतन्त्र, संविधान और नागरिक अधिकारों का रक्षक बताया जाता है और जिससे बहुत से जनवादी-लिबरल लोग जनवादी अधिकारों की हिफ़ाज़त की उम्मीद रखते हैं। यह सच है कि उच्चतम न्यायालय ने कई बार सरकार को कहा है कि वह आधार सूचना की उचित सुरक्षा का क़ानून बनाये बग़ैर इसे आगे न बढ़ाये और इसे किसी भी सार्वजनिक सेवा के लिए आवश्यक न करे। लेकिन सरकार जब ऐसा करती है तो उसको रोकना तो छोड़िये, उच्चतम न्यायालय उसकी सुनवाई के लिए भी तैयार नहीं होता, अभी तक ऐसी सुनवाई नहीं हुई है। उलटे ख़ुद इस न्यायालय ने ही मोबाइल सिम कार्ड के लिए आधार सत्यापन को ज़रूरी करने का आदेश भी दे दिया है। आधार की अनिवार्यता को चुनौती देने के लिए कई लोग उच्चतम न्यायालय जा चुके हैं। काफ़ी सुनवाई के बाद 11 अगस्त 2015 को इसकी एक खण्डपीठ ने फ़ैसला दिया कि यह एक महत्वपूर्ण विषय है और इसकी सुनवाई और फ़ैसला एक नौ सदस्यीय संविधान पीठ को करना चाहिए, इसकी सिफ़ारिश भी मुख्य न्यायाधीश से कर दी और तब तक के लिए सरकार से इसे अनिवार्य न बनाने के लिए कहा। लेकिन याचिकाकर्ताओं द्वारा कई बार स्मरण दिलाये जाने के बावजूद भी यह संविधान पीठ नहीं बनायी गयी। इस बीच में सरकार एक के बाद एक बहुत से कार्यों के लिए आधार को अनिवार्य कर भी चुकी है।

सुप्रीम कोर्ट के ही पहले निर्देश के अनुसार सरकार के इस क़दम पर रोक लगाने के लिए कई याचिकाकर्ता विभिन्न पीठों के पास जा चुके हैं, लेकिन वह इस पर फ़ैसला देने के बजाय संविधान पीठ के लिए इसे छोड़ दे रहे हैं। लम्बे इन्तज़ार के 23 महीने के बाद अब मुख्य न्यायाधीश ने संविधान पीठ द्वारा 18-19 जुलाई को इसकी सुनवाई की तारीख़ दी है। लेकिन इस बीच सुनवाई के इन्तज़ार में सरकार पहले ही आधार को बहुत से कार्यों के लिए प्रभावी रूप से अनिवार्य बना बहुत से नागरिकों को आधार बनवा लेने के लिए विवश कर चुकी है। अर्थात अब न्यायालय के फ़ैसले का कोई बहुत अर्थ रह नहीं गया है। नोटबन्दी के वक़्त भी हम यही स्थिति देख चुके हैं। उस मामले पर भी वक़्त पर सुनवाई करने के बजाय सुप्रीम कोर्ट ने इसी महीने कुछ दिन पहले सरकार को नोटिस देकर पूछा है कि जनता को पुराने नोट बदलने का पर्याप्त मौक़ा क्यों नहीं दिया गया! अर्थात चिड़िया के खेत चुग लेने के बाद रखवाली के इन्तज़ाम की बात की जा रही है जो पूरी तरह बेमतलब है। इस तरह हम पाते हैं कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में संसद और न्यायालय जैसे अंग सत्ताधारी वर्ग के आक्रमण से जनता के अधिकारों की रक्षा में कोई प्रभावी भूमिका निभाने के औजार नहीं हैं।

●●●

जेनरिक दवाओं के बारे में मोदी की खोखली बातें और ज़मीनी सच्चाई

लच्छेदार गप्पबाज़ी के लिए प्रसिद्ध प्रधानमन्त्री मोदी ने बीती 17 अप्रैल को एक चैरिटेबल अस्पताल की नींव रखते हुए कहा कि सरकार डॉक्टरों की महँगी ब्राण्डेड दवाइयाँ लिखने की आदत को दुरुस्त करने के लिए जल्द ही सख़्त क़ानून बना रही है, ताकि लोग सस्ती दवाइयाँ ख़रीद सकें।

मोदी का यह बयान भी उनके अब तक के बयानों की तरह आम जनता को असल मुद्दे से भटकाकर रखने और अपने भक्तों से वाह-वाह करवाने के अलावा कुछ ख़ास असर डालने वाला नहीं है। असल में यह सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं के क्षेत्र में जनता को सस्ता इलाज उपलब्ध करवाने में सरकार की अपनी नाकामियों पर पर्दा डालने और अपने आक़ाओं, स्वास्थ्य क्षेत्र में ढेरों मुनाफ़ा कमाने वाली घरेलू और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का चुस्त तरीक़े से बचाव करने के लिए मोदी का सोचा-समझा एक नुस्खा ही था।

प्रधानमन्त्री मोदी के इस बयान के बाद भारतीय मेडिकल काउंसिल और पंजाब सरकार के स्वास्थ्य विभाग द्वारा सभी डॉक्टरों को सिर्फ़ 'जेनरिक नाम' से दवाइयाँ लिखने के आदेश दिये गये। जहाँ जेनरिक और ब्राण्डेड दवाइयों का मसला आम जनता के लिए तो समझना पेचीदा है ही, वहीं डॉक्टरों के शिविर में भी मोदी के इस बयान और भारतीय मेडिकल काउंसिल के निर्देशों के बारे में अपनी-अपनी समझ के मुताबिक़ चर्चा चलती रही और ज़्यादातर डॉक्टर 'जेनरिक दवाइयाँ' और दवाइयों के 'जेनरिक नाम' के चक्करों में उलझते देखे गये। पंजाब के एक डॉक्टरों के संगठन द्वारा प्रधानमन्त्री और मेडिकल काउंसिल ऑफ़ इण्डिया को लिखत में इन निर्देशों को स्पष्ट करने के लिए कहा गया।

मोदी द्वारा डॉक्टरों को चेतावनी से ज़मीनी स्तर पर आम जनता पर कितना असर पड़ेगा, इस मसले को समझने के लिए पहले 'ब्राण्डेड' और 'जेनरिक दवाइयाँ' और दवाइयों के 'जेनरिक नाम' के फ़र्क़ को समझना पड़ेगा। जब कोई दवा कम्पनी किसी नयी दवाई की खोज करती है, तो वह कम्पनी उस दवाई को बनाने और बेचने का एकाधिकार (पेटेण्ट) हासिल करती है और दवाई के रासायनिक नाम के अलावा एक अलग नाम पर बेचती है, जिसको 'ब्राण्डेड दवाई' कहा जाता है। पेटेण्ट आमतौर पर 20 वर्ष तक का हो सकता है। यह तर्क दिया जाता है कि इस समय के दौरान कम्पनी दवाई की खोज, इसे विकसित करने के ख़र्चे और दवाई को प्रमोट करने के ख़र्चे पूरे करती है, जबकि असल में कम्पनी मुनाफ़ों के अम्बार लगा रही होती है। जब एक ख़ास दवाई बनाने का अधिकार किसी कम्पनी के पास ख़त्म हो जाता है, तो यह दवाई बनाने का अधिकार बाक़ी कम्पनियों को भी हासिल हो जाता है और फिर वे कम्पनियाँ भी दवाई को रासायनिक नाम के अलावा एक अलग ख़ास नाम पर बेचती हैं, जिसे 'ब्राण्डेड जेनरिक दवाई' कहा जाता है। आमतौर पर 'ब्राण्डेड दवाई' और 'ब्राण्डेड जेनरिक दवाई' की रिटेल क़ीमत लगभग एक जैसी होती है। तीसरा नम्बर आता है 'जेनरिक दवाइयों' का जो सिर्फ़ रासायनिक नाम पर बिकती हैं। इन दवाइयों की पैकिंग पर रासायनिक नाम के अलावा कम्पनी द्वारा दिया गया एक अलग नाम नहीं लिखा होता।

अब जेनरिक दवाइयों के बारे में फैलाये गये भ्रमजाल की छानबीन करते हैं और देखते हैं कि डॉक्टरों को 'जेनरिक दवाइयाँ' या 'जेनरिक नाम' से दवाइयाँ लिखने का फ़रमान सचमुच क़ारगर है या एक सरकारी हवाई बात के बिना और कुछ नहीं है।

'इण्डियन फ़ार्मेकालॉजी' जनरल के सर्वेक्षण में खुलासा किया गया है कि 'ब्राण्डेड' दवाइयों पर प्रचून मार्जन 25%-30% है और ब्राण्डेड जेनरिक दवाइयों पर यह मार्जन 201% से 1016% तक है। भारत की दवाई की कम्पनियों का सकल घरेलू उत्पादन 1 लाख करोड़ है, जिसमें सिर्फ़ 10% हिस्सा जेनरिक दवाइयों का है। 90% घरेलू दवाइयों का बाज़ार ब्राण्डेड जेनरिक दवाइयों का है। भारत की ज़रूरी दवाइयों की सूची में शामिल दवाइयों का उत्पादन सिर्फ़ 12% है। बाज़ार का 45% हिस्सा एक से अधिक दवाइयों की जुड़कर बनी दवाइयों का है, जो कि 45,000 करोड़ बनता है और ये दवाइयाँ जेनरिक नहीं हैं। इन आँकड़ों से काफ़ी स्पष्ट हो जाता है, अगर डॉक्टर पूरी तरह जेनरिक नाम या दवाइयों का रासायनिक नाम लिखना भी लागू कर देते तो भी आम जनता को इसका ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ेगा, क्योंकि बाज़ार का बड़ा हिस्सा पहले ही ब्राण्डेड जेनरिक दवाइयों का है। अगर डॉक्टर दवाई का जेनरिक नाम भी लिखता है तो रिटेल दवाइयों का दुकानदार तय करेगा कि किस कम्पनी की दवाई देनी है और वह उसी कम्पनी की दवाई बेचेगा, जिसमें उसको ज़्यादा मुनाफ़ा होगा और इससे आम जनता की लूट वैसे ही बरक़रार रहेगी। जेनरिक दवाइयों को जनता तक पहुँचाने के लिए 2008 में केन्द्र सरकार ने 'जन औषधि' नाम की सस्ती दवाइयों के स्टोर खोलने का काम शुरू किया और इन 9 वर्षों में कुछ स्टोर चल रहे हैं, लेकिन अक़्सर दवाइयों का स्टॉक ख़त्म हुआ रहता है। भारत में इस समय कुल लगभग 8 लाख फुटकर दवाइयों के स्टोर हैं। इसके मुक़ाबले इस समय देशभर में जन औषधि स्टोरों की गिनती 10,000 से भी कम है और इनके दूर स्थित होने के कारण जनता इनका लाभ नहीं ले पाती।

बहुराष्ट्रीय फ़ार्मा कम्पनियों को खुलेआम लूट के लिए छोड़ कर सिर्फ़ डॉक्टरों पर नकेल कसने से और सरकार द्वारा अपनी ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़ने से जनता की हो रही लूट कम नहीं होने वाली। दवा कम्पनियाँ अपनी दवाइयों के नाम डॉक्टरों को रटाने के लिए हरसम्भव हथकण्डे इस्तेमाल करती हैं। तोहफ़ों के रूप में कमिशन के अलावा फ़िल्मों की टिकटें, कार, सोना और विदेश यात्रा तक उपलब्ध करवाती हैं। जॉनसन और फ़ेज़र जैसी कम्पनियाँ दवाइयों की खोज और विकास करने के ख़र्चे से दुगुणा ख़र्चा सिर्फ़ अपनी दवाइयों के प्रचार पर ख़र्च करती हैं। अमेरिका की एक कम्पनी का 3.49 बिलियन डॉलर का वार्षिक ख़र्च डॉक्टरों, अस्पतालों तथा बाक़ी स्वास्थ्य कर्मचारियों को ख़ुश करने पर लगता है। डॉक्टरों के सम्मेलनों को दवाई और मेडिकल साजो-सामान बनवाने वाली कम्पनियाँ सपॉन्सर करती हैं। इस वर्ष के जनवरी के महीने में 7 बड़े सम्मेलन भारत के विभिन्न राज्यों में हुए, जिनका बजट कई करोड़ रुपये का था। पिछले महीने हुए एक सम्मेलन का बजट 17 से 20 करोड़ था और इसमें प्लैटिनम सपॉन्सर से 3 करोड़ और डायमण्ड सपॉन्सर से 2 करोड़ लिया गया।

पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में सरकार पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करती है। जिसका सिर्फ़ एक ही एक काम पूँजीपतियों के लिए देश में मेहनतकश जनता की लूट के लिए साज़गार माहौल बनाकर रखना है। इसी के तहत जनता के लिए भ्रम भी पैदा करना होता है कि सरकार जनता के लिए कुछ-न-कुछ कर रही है और पूँजीपतियों द्वारा की जा रही लूट पर पर्दा डालना बरक़रार रहता है। भारत में 1990 के बाद नवउदारवादी नीतियाँ लागू होने के ढाई दशकों बाद मोदी सरकार के आने से तो हुक्मरानों का यह जन-विरोधी चेहरा पूरी तरह नंगा-सफ़ेद सामने आ चुका है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को सिर्फ़ ग़रीबों के प्राथमिक इलाज तक सीमित किया जा रहा है। लगातार आउटसोर्सिंग तथा अन्य योजनाओं द्वारा निजीकरण किया जा रहा है। योजना आयोग की रिपोर्ट के मुताबिक़ 3 करोड़ 90 लाख जनता हर वर्ष मँहगे इलाज के कारण ग़रीबी रेखा से नीचे जा रही है। मरीज़ के इलाज के कुल ख़र्च का 70% हिस्सा दवाइयों पर ख़र्च होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में 47% और शहरी क्षेत्रों में 31% जनता अपना इलाज क़र्ज़ा लेकर या घर बेचकर करवाती है।

भारत में 30% जनता अपना इलाज ही नहीं करवा पाती। पिछले 10 वर्षों में टीबी से होने वाली मौतों की संख्या दुगुनी हुई है। पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों की मृत्यु दर कुल मृत्यु दर की आधा है। स्वास्थ्य ख़र्च सकल घरेलू उत्पादन (जीडीपी) का 1.3 फ़ीसदी हिस्सा दुनिया-भर में नीचे से 12वें स्थान पर है। 27% कुल मौतों के समय पर डॉक्टरी सहूलत न मिलने के कारण होती हैं।

जहाँ एक ओर सरकारी दवा कारख़ाने तरह-तरह के बहानों के तहत बन्द किये जा रहे हैं, इसके विपरीत निजी क्षेत्र में 10,500 दवाई की कम्पनियाँ हैं। भारत में लगभग 900 दवाइयाँ बनती हैं और 62,000 भिन्न-भिन्न नामों से दुनिया-भर में आयात होने वाली 20% दवाइयाँ भारत में बनी होती हैं। भारत 200 देशों में दवाइयाँ निर्यात करता है। एड्स की 80% दवाइयाँ भारत में बनकर जाती हैं। भारत की दवाई का उद्योग दुनिया में मात्रा के हिसाब से तीसरे स्थान पर है। विश्व में खाई जाने वाली 3 गोलियों में से 1 गोली भारत में बनी होती है। अमेरिका में 40% जेनरिक दवाइयाँ भारत की बनी होती हैं। भारत को दुनिया की फ़ार्मेसी कहा जाता है। इससे साफ़ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत से सस्ती श्रम शक्ति को चूसती हैं और भारत की ग़रीब मेहनतकश जनता से हरसम्भव तरीक़े से मुनाफ़ा कमाने के लिए उसे चूसती-निचोड़ती रहती हैं।

जब तक मुनाफ़े पर आधारित इस पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ात्मा नहीं होता, तब तक यह लूट जारी रहेगी। पूँजीवादी सरकारें पूँजीपतियों के हितों के लिए आम जनता के अधिकार छीनती रहेंगी। इसके अलावा इससे और उम्मीद भी क्या की जा सकती है।

– डॉ. जश्न जीदा

उड़ती हुई अफ़वाहें, सोती हुई जनता!

इधर कुछ दिनों से राजस्थान के अलवर-जयपुर ज़िलों के गाँवों-शहरों में हवा की तेज़ी से फैलती इस अफ़वाह के चलते दहशत फैली हुई है कि पहले तो सोते समय रहस्यमय तरीक़े से महिलाओं के बालों की चोटी कट जाती है, फिर उस महिला की छाती पर त्रिशूल का निशान बन जाता है और उसके बाद या तो वह महिला बेहोश हो जाती है या उसकी मृत्यु हो जाती है। वैसे तो गाँवों में अधिकतर लोग अन्धविश्वासी ही होते हैं, परन्तु महिलाएँ जोकि अधिकतर अनपढ़ होती हैं; इस अफ़वाह के चलते अधिक दहशत में हैं। धार्मिक आस्था के चलते महिलाएँ कहीं मन्दिरों में प्रसाद चढ़ा रही हैं, तो कहीं घरों के दरवाज़ों पर मेहन्दी और हल्दी से पंजों की छाप बना रही हैं। वैसे तो इस तरह की यह कोई नयी घटना नहीं है; साल भर पहले यह अफ़वाह उड़ी थी कि रात में कोई गेंहू पीसने की चक्की पर हथौड़े से पीटता है और फिर उसके बाद उस घर में कुछ अनहोनी घटित हो जाती है। इस तरह की घटनाओं से कोई भी समझदार और तार्किक व्यक्ति यह सोचने पर ज़रूर मज़बूर होगा कि अनपढ़ महिलाओं की बात छोड़ भी दें तो बाक़ी पढ़ी-लिखी जनता भी आखिर इन अफ़वाहों को सच क्यों मानने लगती है? वैसे तो सरकार भी अफ़वाहों को अनैतिक व ग़ैरक़ानूनी मानती हैं, परन्तु कभी भी उन लोगों की शिनाख़्त नहीं की जाती जो अफ़वाह फैलाने के दोषी होते हैं। कुछ न्यूज़ चैनल भी इस तरह की अफ़वाहों को सनसनीखेज ख़बर के रूप में चलाकर टीआरपी बटोरने का काम करते हैं। आरएसएस, बजरंग दल जैसे हिन्दू कट्टरपन्थी संगठन व्हाट्सएप के ज़रिये इस अफ़वाह का इस्तेमाल मुसलमानों के खिलाफ़ नफ़रत भड़काने में कर रहे हैं। उनका कहना है कि एक मुस्लिम तान्त्रिक गिरोह हिन्दू महिलाओं की जनसंख्या घटाने के लिए यह सब कर रहा है। हिन्दू कट्टरपन्थियों के इन धूर्ततापूर्ण कृत्यों से यह आशंका होती है, जैसे यह अफ़वाह ख़ुद इन लोगों द्वारा ही फैलायी गयी हो। ख़ैर सच्चाई जो भी हो, सोचने लायक बात यह है कि समाज में इस तरह की अफ़वाहें तेज़ी से क्यों फैल जाती हैं, जबकि सही तथ्यपरक बातें नहीं फैल पातीं। इसका कारण हमारे सामाजिक ताने-बाने में मौजूद है। हम जिस समाज में रहते हैं वहाँ सवाल करना, तर्क करना, बहस करना, चीज़ों को वैज्ञानिक तरीक़े से समझ लेना हम नहीं सीख पाते। परिवार से लेकर स्कूल-कॉलेजों में भयंकर रूप से मध्ययुगीन पिछड़ापन मौजूद है। हमारा रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, बोलचाल इत्यादि बेशक आधुनिक हो गये हों, लेकिन हमारी सोच हमारे विचार अभी बेहद पिछड़े हुए हैं। और इस पिछड़ेपन के लिए सरकारें, प्रिण्ट मीडिया सहित इलैक्ट्रोनिक मीडिया, शिक्षण-संस्थान, टेलीविज़न एवं फ़िल्म संस्थान समान रूप से दोषी हैं।

अगर सरकार चाहे तो इन सबके माध्यम से लोगों को बेहतर तार्किक एवं वैज्ञानिक शिक्षा दी जा सकती है। परन्तु किसी भी पार्टी की सरकारें ऐसा नहीं करती हैं। सवाल उठता है क्यों? क्योंकि ऊपर वर्णित इन तमाम संस्थानों पर कॉरपोरेट घरानों का क़ब्ज़ा है। उनका काम लोगों को शिक्षित करना नहीं, बल्कि केवल और केवल जैसे भी हो मुनाफ़ा बटोरना होता है। नेता-मन्त्रियों को उनके हिस्से का मुनाफ़ा महीने-की-महीने पहुँचा दिया जाता है। इस तरह मुनाफ़ा कूटने का यह गोरखधन्धा चलता रहता है। सरकार को जागरुक जनता की नहीं, बल्कि भेड़चाल चलने वाली जनता की ज़रूरत होती है। उसे यह बख़ूबी पता होता है कि अगर लोगों को बेहतर तार्किक एवं वैज्ञानिक शिक्षा दी जायेगी तो वे सोचने-समझने लगेंगे। उनको किसी भी तरीक़े से मूर्ख नहीं बनाया जा सकेगा। जाति-धर्म के नाम पर आपस में बाँटा नहीं जा सकेगा। ऐसे में उनकी चुनावी फ़सल कैसे तैयार हो सकेगी?

सरकार और उसके तमाम प्रकार के पिट्ठू जनता को अन्धविश्वासी और कूपमण्डूक बनाये रखना चाहते हैं। लोगों की चेतना हर सम्भव तरीक़े से कुन्द कर देना चाहते हैं। ताकि वे भयंकर रूप से फैलती ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई, बदहाली जैसी ज्वलन्त समस्याओं को भूलकर तमाम प्रकार की बेसिर-पैर की ऊल-जलूल बातों में उलझे रहें।

विजय राही (अलवर से चिट्ठी)

मुस्लिम आबादी बढ़ने का मिथक

नितेश शुक्ला

हमें अक़सर ऐसा सुनने को मिलता है कि भारत में मुस्लिम तेज़ी से आबादी बढ़ा रहे हैं जिससे हिन्दुओं को ख़तरा है। सोशल मीडिया पर ये "तथ्य" बहुत ज़ोर-शोर से फैलाया जाता है। वाट्सअप पर मैसेज फैलाये जाते हैं कि भारत में मुस्लिम बहुत तेज़ी से अपनी जनसंख्या बढ़ा रहे हैं और ऐसा ही रहा तो भारत 2050 तक मुस्लिम बहुल राष्ट्र बन जायेगा। (हालाँकि कुछ समय पहले तक ये 2040 तक होने वाला था।)।

फिर कुछ लोग डर जाते हैं। उनका ख़ून अपने धर्म और मातृभूमि की रक्षा करने के लिए उबाल मारने लगता है। फिर वो उस मैसेज को शेयर कर के अपने सच्चे हिन्दू होने का सबूत दे देते हैं। बिना ये जाने कि पोस्ट में कही गयी बात कितनी हद तक सही है। इस प्रकार आम जन की भावनाओं का इस्तेमाल कर धार्मिक संगठन लोगों का धर्म के नाम पर ध्रुवीकरण करके राजनीतिक फ़ायदा उठाते हैं। इन पार्टियों या संगठनों के आईटी सेल द्वारा ये मैसेज बनाये जाते हैं और फिर उनके कार्यकर्ता इनको सैकड़ों ग्रुपों में फैला देते हैं। ज़्यादातर मामलों में फैलाया गया मैसेज या तो पूर्णतः झूठ होता है या उसमें सच सिर्फ़ एक अंश होता है। जब कोई झूठ लम्बे समय तक समाज में प्रचारित किया जाता है तो लोगों को वो एक प्रचलित सत्य लगने लगता है। इस लेख में हम मुस्लिम जनसंख्या के बारे में आरएसएस द्वारा फैलाये गये कई झूठों की जाँच-पड़ताल करेंगे।

पहला मिथक : मुस्लिम 4 शादियाँ करते हैं और काफ़ी ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं।

आपको बार-बार ये सुनने और पढ़ने को मिल सकता है कि मुस्लिम कई शादियाँ करते हैं और ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं। लोग इस तथ्य की प्रमाणिकता की जाँच किये बिना इसको सच मानने लगते हैं। कई लोग ये उदाहरण भी देने लगते हैं कि उनके फलाँ गाँव में फलाँ मुस्लिम व्यक्ति ने 3 शादियाँ की हैं। आइए हिन्दुओं के बीच इस प्रचलित मान्यता की पड़ताल करें।

एक छोटे-से आँकड़े से ये प्रचलित "सत्य" भरभराकर बिखर जाता है कि भारत में 1000 मुस्लिम पुरुषों पर कितनी मुस्लिम महिलाएँ हैं। 2011 की जनगणना के हिसाब से भारत में 1000 मुस्लिम पुरुषों पर 951 मुस्लिम महिलाएँ हैं। यानी अगर हर व्यक्ति एक ही शादी करे तो भी 1000 मुस्लिम पुरुषों में से 49 अविवाहित रह जाते हैं। ऐसे में ये सोचने-मात्र से दिमाग़ बिदक उठता है कि हर मुस्लिम कई शादियाँ करता है। अगर यह मान भी लें कि कुछ मुस्लिमों ने एक से ज़्यादा शादियाँ कीं तो यह भी तय है कि उसी अनुपात में अविवाहित मुस्लिम पुरुषों की संख्या भी बढ़ जायेगी।

पर संघी अब भी हार नहीं मानता है। वो तर्क करता है कि दरअसल मुस्लिम लव जिहाद कर रहे हैं यानी मुस्लिम हिन्दू लड़कियों को फुसलाकर उनसे शादी कर रहे हैं, इसलिए एक मुस्लिम कई-कई शादियाँ कर पाता है। इस झूठ का कोई आँकड़ा संघियों के पास नहीं है। अन्तरधार्मिक शादियों में दो तरह की शादियाँ होती हैं। एक तो जो हम आमतौर पर जानते हैं, जिसमें दो अलग-अलग धर्मों के लोग अपनी मर्ज़ी से शादी करते हैं। दूसरे प्रकार की शादी वो होती है जिसमें मुस्लिम लड़के एक साज़िश के तहत हिन्दू लड़कियों को फाँसकर शादी कर लेते हैं और उनका धर्म-परिवर्तन करा देते हैं। दुर्भाग्य से दूसरे प्रकार की शादी या तो वाट्सअप फ़ेसबुक पर या तो संघियों के दिमाग़ में पायी जाती है। 2014 में जब चुनावों के पहले लव जिहाद का मुद्दा उठाया गया तो संघी पूरे देश में इसका एक ही उदाहरण यूपी के मेरठ में दिखा पाये थे। बाद में पता चला कि वो मामला भी झूठा था और स्थानीय विधायक और लड़की के पिता ने लड़की पर दबाव बनाकर उससे ऐसा बुलवाया था। (इस ख़बर के लिए यह लिंक देखा जा सकता है - http://www.thehindu.com/news/national/other-states/for-meeruts-love-jihad-couple-3year-courtship-ends-in-nikah/article7953238.ece)

इस प्रकार संघ और बीजेपी का लव जिहाद का एकमात्र मामला फुस्स हो गया। अब तो भक्त इतने व्याकुल हो गये हैं कि उन्होंने मशहूर क्रिकेटर ज़हीर ख़ान और अभिनेत्री सागरिका घटगे की शादी को भी लव जिहाद क़रार दिया है।

इस बारे में अगर हम तथ्यों की बात करें तो राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के 2005-06 के आँकड़ों पर आधारित एक रिसर्च के अनुसार भारत में केवल 2.1% शादियाँ ही अन्तरधार्मिक होती हैं। इसके अतिरिक्त अगर आँकड़ों की बात करें तो इसी रिपोर्ट के अनुसार 2005-06 में भारत में 2% लोग एक से ज़्यादा वैवाहिक सम्बन्धों में थे। धार्मिक आबादी के हिसाब से हिन्दुओं में 1.77% और मुस्लिमों में 2.55% लोग ऐसे थे। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि ये आँकड़े तब हैं, जब हिन्दू कोड बिल एक से अधिक शादियों को वैधता नहीं देता, जबकि मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड एक से अधिक शादियों को सशर्त मान्यता देता है। इस प्रकार ये बिल्कुल साफ़ है कि 1000 मुस्लिमों पर 951 मुस्लिम महिलाओं का होना, अन्तरधार्मिक विवाह का मात्र 2.1% होना और मुस्लिमों में बस 2.55% का एक से ज़्यादा शादी करना ये ऐसे तीन आँकड़े हैं, जो संघ के द्वारा फैलाये जाने वाले झूठ की हवा निकालने के लिए काफ़ी हैं।

दूसरा मिथक : मुस्लिम इतनी तेज़ी से आबादी बढ़ा रहे कि सन 2050 तक भारत मुस्लिम बहुल देश बन जायेगा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा फैलाये गये सबसे प्रचलित झूठों में से यह भी एक है। लोगों के दिमाग़ में असुरक्षा भरके ही इनकी राजनीति फल-फूल सकती है। आइए देखते हैं कि संघ की इस प्रचलित उद्घोषणा में कितना दम है।

आरएसएस काफ़ी पहले से ये बात फैलाता रहा है कि भारत में मुस्लिम बहुत ज़्यादा बच्चे पैदा कर अपनी आबादी बढ़ा कर भारत को इस्लामिक मुल्क़ बनाना चाहते हैं। इस मामले में एक मज़े की बात यह है कि आरएसएस की प्रचार मशीनरी भारत के इस्लामिक मुल्क़ बनने की तारीख़ आगे सरकाती रहती है। कुछ साल पहले तक ये बोलते थे कि भारत 2035 तक इस्लामिक देश बन जायेगा, फिर बाद में इसको 2040 कहना शुरू कर दिया और अब कहा जा रहा कि भारत 2050 तक मुस्लिम बहुल राष्ट्र हो जायेगा। अब चूँकि अमेरिकी संस्था पिउ रिसर्च सेण्टर ने यह बता दिया है कि 2050 तक भारत में क़रीब 31 करोड़ मुस्लिम और 130 करोड़ हिन्दू होंगे, तो हो सकता है कि अब आरएसएस फिर भारत के इस्लामिक मुल्क़ बनने की तारीख़ को सरकाकर 2060 या 2070 कर दे। फिर भी ठीक-ठाक आबादी संघ की प्रचार मशीनरी द्वारा फैलाये इस भविष्य के हौव्वे पर यक़ीन कर लेती है और ख़ुद को असुरक्षित महसूस करने लगती है। इसलिए यह जानना ज़रूरी है कि भविष्य के इस हौव्वे का क्या वाक़ई में अस्तित्व है? क्या इस बात की सम्भावना है कि भारत आगे कभी 2070 में या 2100 में या 2150 में इस्लामिक राष्ट्र बन जायेगा?

इसके लिए हम थोड़ा जनसंख्या विज्ञान को संक्षेप में समझने की कोशिश करेंगे।

किसी भी देश की जनसंख्या वृद्धि दर कई कारकों पर निर्भर करती है, जैसे कि जन्म दर, मृत्यु दर, प्रवास, युवा आबादी इत्यादि। ये कारक ख़ुद देश की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं।

सामान्यतः जनसंख्या एकरेखीय क्रम (1, 2, 3, 4, 5...) या गुणात्मक क्रम (1, 2, 4, 8, 16...) में नहीं बढ़ती है। जापान व इंग्लैण्ड जैसे कई विकसित देशों की जनसंख्या वृद्धि दर ऋणात्मक है। कुछ की बढ़ने की दर ज़्यादा है तो कुछ ऐसे देश हैं जिनकी जनसंख्या तो बढ़ रही है पर वृद्धि दर लगातार कम हो रही है। किसी देश की जनसंख्या कैसे बढ़ेगी, यह वहाँ की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ तय करती हैं। अगर एक लम्बे समय के जनसंख्या विकास को देखें तो पूँजीवाद के आने के बाद पिछले 200 सालों में औद्योगिक क्रान्तियाँ हुईं जिसके बाद विकसित देशों में पहले जनसंख्या तेज़ी से बढ़ी। जनसंख्या वृद्धि की यह दर बाद में कम होती गयी और अब वो स्पेन, जापान जैसे कई देशों में ऋणात्मक भी हो चुकी है। इंग्लैण्ड की जनसंख्या के उदाहरण से इसको समझा जा सकता है :

1801 - 83 लाख
1851 - 1.8 करोड़ (वृद्धि - 117%)
1901 - 3.1 करोड़ (वृद्धि - 72%)
1951 - 4.2 करोड़ (वृद्धि - 36%)
2001 - 4.9 करोड़ (वृद्धि - 17%)

हम देख सकते हैं कि हर 50 सालों में जनसंख्या के बढ़ने की दर कम होती गयी है। शुरू में जो आबादी 50 सालों में 117% बढ़ गयी, वही बाद में 50 सालों में मात्र 17% बढ़ी। जनसंख्या अभी भी बढ़ रही है, पर वृद्धि दर घटती जा रही है। फ़िलहाल हम आगे बढ़ते हैं।

जिन देशों में औद्योगिकीकरण और नयी उत्पादक शक्तियों का विकास बाद में हुआ, वहाँ बाद में जनसंख्या बढ़नी शुरू हुई। और भारत और चीन उनमें से एक हैं। भारत में 1900 से 1950 तक जनसंख्या 65% बढ़ी जबकि 1950 से 2000 तक के 50 सालों में 183% बढ़ी। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि किसी देश या राज्य की जनसंख्या वृद्धि दर एक स्थिर मान न होकर वहाँ की आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। जब देश में नयी उत्पादन पद्धति विकसित हो जाती है और उत्पादन तेज़ी से बढ़ने लगता है तो जनसंख्या तेज़ी से बढ़ती है। लेकिन एक समय के बाद चिकित्सा और शिक्षा के विकास के बाद लोगों की जीवन प्रत्याशा बढ़ने से लोग छोटे परिवार की तरफ़ मुड़ते जाते हैं। आज की नयी उत्पादन पद्धति और बाज़ार व्यवस्था में एकल परिवार (छोटे परिवार) पुराने बड़े व संयुक्त परिवारों की जगह लेते जा रहे हैं। साथ ही इस पूँजीवादी व्यवस्था में सामाजिक और आर्थिक विकास में एक स्थिरता या जड़ता आ जाती है जिसका प्रभाव जनसंख्या पर भी पड़ता है।

जनसंख्या की यह बढ़त एक सन्तृप्त स्तर तक पहुचने के बाद या तो स्थिर हो जाती है या उसके बाद बहुत धीरे-धीरे घटती या बढ़ती है। भारत ऐसे देशों में आता है, जहाँ जनसंख्या अभी अपने सन्तृप्तता के स्तर तक नहीं पहुँची है। भारत की जनसंख्या अभी भी बढ़ रही है लेकिन उसके बढ़ने की दर तेज़ी से कम हो रही है। 1961 से अभी तक के वृद्धि दर के आँकड़े देखते हैं -

1961 से 71 के बीच 24.8%
1971 से 81 के बीच 25%
1981 से 91 के बीच 24.9%
1991 से 2001 के बीच 20%
2001 से 2011 के बीच 16.7%

हम देख सकते हैं कि शुरू के तीन दशकों तक जनसंख्या एक समान दर से बढ़ी और 1980 के बाद से ये दर तेज़ी से कम होने लगी और अभी 24% से घटकर 16.7% रह गयी है। इस पुरे दौर में हिन्दू और मुस्लिम आबादी की वृद्धि दर अलग-अलग देखते हैं :

हिन्दुओं की वृद्धि दर

1961 से 1971 के बीच 23.76%
1971 से 1981 के बीच 25.01%
1981 से 1991 के बीच 23.92%
1991 से 2001 के बीच 17.89%
2001 से 2011 के बीच 15.43%

मुस्लिमों की वृद्धि दर

1961 से 1971 के बीच 33.19%
1971 से 1981 के बीच 30.45%
1981 से 1991 के बीच 30.33%
1991 से 2001 के बीच 29.5%
2001 से 2011 के बीच 23.47%

साथ ही प्रति महिला जनन दर (TFR) (यह एक पैमाना है, जिससे यह पता चलता है कि एक औरत अपने पूरे जीवन में कितने बच्चों को जन्म देती है) देखते हैं :

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2005-06 के अनुसार प्रति महिला जनन दर इस प्रकार है :

1991-92
हिन्दू महिलाएँ - 3.3
मुस्लिम महिलाएँ - 4.4
1998-99
हिन्दू महिलाएँ - 2.78
मुस्लिम महिलाएँ - 3.59
2005-06
हिन्दू महिलाएँ - 2.59
मुस्लिम महिलाएँ - 3.40

प्रति महिला जनन दर समझने के लिए : अगर 100 हिन्दू और 100 मुस्लिम महिलाओं का उदाहरण लें तो 1991 में 100 हिन्दू महिलाएँ अपने पूरे जीवनकाल में 330 बच्चे पैदा कर रही थीं जो 2005 में घटकर 259 बच्चे रह गये। इसी प्रकार 1991 में 100 मुस्लिम महिलाएँ 440 बच्चे पैदा कर रही थीं जो 2005 में घटकर 340 रह गये। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि किसी जनसंख्या को स्थिर रखने के लिए कुल जनन दर 2.1 होना चाहिए।

इन दोनों आँकड़ों को देख के बताया जा सकता है कि भारत की आबादी तो बढ़ रही है पर इसके बढ़ने की दर लगातार कम होती जा रही है।

2050 में क्या होगा?

जनसंख्या का पूर्वानुमान लगाने के लिए हम पुराने आँकड़ों का ट्रेण्ड (चलन) देखते हैं। पिछले 5 दशकों के आँकड़ों के आधार पर भविष्य का एक पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। आइए हम 2050 में भारत की जनसंख्या और भारत में हिन्दू और मुस्लिम की जनसंख्या निकालते हैं और देखते हैं कि आरएसएस द्वारा फैलायी गयी बात कितनी सही है।

जनसंख्या के पूर्वानुमान के लिए कई पद्धतियाँ इस्तेमाल की जाती हैं। हम उनमें से एक उपयुक्त पद्धति Decreamental increase method का इस्तेमाल करेंगे। जब कोई जनसंख्या बढ़ती है पर उसके बढ़ने की दर घटती है तो यह पद्धति सन्तोषजनक अनुमान देती है। जनसंख्या परिवर्तन के लिए कुछ आकस्मिक घटनाओं (युद्ध, प्राकृतिक आपदा, महामारी इत्यादि) के प्रभाव को अनदेखा करते हुए, हम आगे गणना करेंगे। हमारे पास पिछले 5 दशकों की जनसंख्या और वृद्धि दर के आँकड़े हैं। यह मानते हुए कि बिना किसी हस्तक्षेप के यह जनसंख्या इसी चलन से बढ़ेगी, तो इन आँकड़ों के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलेंगे -

अगले 4 दशकों के बाद 2050 में भारत की जनसंख्या क़रीब 175 करोड़ होगी।

भारत में हिन्दुओं की जनसंख्या अगले 4 दशकों तक निम्न दर से बढ़ेगी:

(पेज 12 पर जारी)

मुस्लिम आबादी बढ़ने का मिथक

(पेज 11 से आगे)

2011-21	12.43%
2021-31	9.40%
2031-41	6.40%
2041-51	4.00%

2051 में भारत में हिन्दुओं की जनसंख्या क़रीब 129.26 करोड़ हो जायेगी जो पिऊ रिसर्च सेण्टर के दिये गये आँकड़े (130 करोड़) के काफ़ी क़रीब है।

अगर मुस्लिमों की जनसंख्या देखें तो वो अगले 4 दशकों तक निम्न दर से बढ़ेगी :

2011-21	20.22%
2021-31	16.72%
2031-41	13.72%
2041-51	10.22%

2051 में भारत में मुसलमानों की जनसंख्या क़रीब 31.52 करोड़ हो जायेगी जो पिऊ रिसर्च सेण्टर के दिये गये आँकड़े (31 करोड़) के काफ़ी क़रीब है।

इसके बाद हिन्दुओं की जनसंख्या वृद्धि दर क़रीब स्थिर हो जायेगी, जबकि मुस्लिम जनसंख्या वृद्धि दर आगे के एक-दो दशकों तक घटती रहेगी। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 2071 आते-आते मुस्लिमों की जनसंख्या वृद्धि दर हिन्दुओं की जनसंख्या वृद्धि दर के लगभग बराबर हो जायेगी जो कि 4% से 5% के बीच होगी। 2071 में भारत की जनसंख्या क़रीब 192 करोड़ होगी, जिसमें हिन्दुओं की जनसंख्या 140 करोड़ व मुसलमानों की जनसंख्या 35 करोड़ के क़रीब रहेगी। साथ ही भारत की जनसंख्या वृद्धि में भी स्थिरता आयेगी और जनसंख्या या तो स्थिर हो जायेगी या बहुत धीरे-धीरे बढ़ेगी।

फिर भी अगर इसके बाद 2071 तक की वृद्धि दर को आगे अगर स्थिर मानकर गणना करें तो 2100 में भारत की जनसंख्या क़रीब 216 करोड़ हो जायेगी जिसमें हिन्दुओं की जनसंख्या 157 करोड़ व मुस्लिमों की जनसंख्या 39 करोड़ के क़रीब होगी। सदी के अन्तिम दो दशकों से जनसंख्या घटनी भी शुरू हो सकती है।

ऊपर की इन गणनाओं से यह बिल्कुल साफ़ हो जाता है कि 2050, 2070 या 2100 में भारत एक हिन्दू बाहुल्य वाला देश ही रहेगा, जहाँ मुस्लिमों की अधिकतम आबादी 39 करोड़ (कुल आबादी का 18%) से आगे नहीं जायेगी, जबकि हिन्दुओं की जनसंख्या 157 करोड़ (कुल आबादी का 72%) के क़रीब रहेगी।

आरएसएस को एक बार फिर अपनी तारीख़ अब और खिसकानी चाहिए, क्योंकि अब उनकी बात सफ़ेद झूठ लगने लगी है।

दरअसल किसी भी आबादी की वृद्धि दर उसकी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है, न कि उसके धर्म पर। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण द्वारा किये गये सर्वे में यह बात अच्छे से सामने आती है। हाईस्कूल से कम पढ़े हिन्दू हाईस्कूल से ज़्यादा पढ़े हिन्दुओं से ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं। ऐसी ही बात मुस्लिमों के लिए भी सही है। शिक्षा का स्तर, आर्थिक हालत, युवा आबादी का प्रतिशत आदि कारक हैं जो जनसंख्या वृद्धि दर को प्रभावित करते हैं। इसके लिए कुछ तथ्य नीचे दिये जा रहे हैं, जो इसको सही से समझाते हैं :

केरल भारत में सबसे कम जनसंख्या वृद्धि दर वाला राज्य है। 2011 की जनगणना के अनुसार केरल की जनसंख्या 4.4% की दर से बढ़ी जबकि बिहार की जनसंख्या 25% की दर से बढ़ी।

कुछ लोग मानते हैं कि मुस्लिम परिवार नियोजन नहीं अपनाते। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण 2005-06 के आँकड़ों के हिसाब से देखें तो :

1991-92 में 37.7% हिन्दू महिलाएँ परिवार नियोजन अपना रही थीं, जो 2005-06 में बढ़कर 50.2% हो गयीं। वहीं 1991-92 में 22% मुस्लिम महिलाएँ परिवार नियोजन अपना रही थीं, जो 2005-06 में बढ़कर 36.4% हो गयीं। ज़ाहिर है कि मुस्लिम महिलाओं में परिवार नियोजन के प्रति जागरूकता हिन्दू महिलाओं के मुक़ाबले अभी भी काफ़ी कम है, पर उनमें वृद्धि ज़्यादा है। हिन्दू महिलाओं में जहाँ 15 सालों में 12.5% ज़्यादा महिलाओं ने परिवार नियोजन अपनाया, वहीं मुस्लिम महिलाओं में यह वृद्धि 14.4% रही।

इसके अतिरिक्त और भी कई छोटे कारण हैं, जो मुस्लिम आबादी की अधिक वृद्धि दर के लिए ज़िम्मेदार हैं :

1. हिन्दुओं के मुक़ाबले मुस्लिमों में स्त्री-पुरुष अनुपात ज़्यादा है। हिन्दुओं में 1000 पुरुषों पर जहाँ 939 महिलाएँ हैं, वहीं मुस्लिमों में 1000 पुरुषों पर 951 महिलाएँ हैं।

2. एनएफ़एचएस 2005-06 के हिसाब से एक हिन्दू की जीवन प्रत्याशा 65 साल है, जबकि मुस्लिम की जीवन प्रत्याशा उनसे 3 साल ज़्यादा 68 साल है।

3. हिन्दुओं में 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु दर मुस्लिमों से ज़्यादा है। हिन्दुओं में प्रति 1000 बच्चों पर 5 वर्ष से कम उम्र की मृत्यु दर जहाँ 76 है, वहीं मुस्लिमों में यह संख्या 70 है।

सच्चर कमेटी की रिपोर्ट और जनसंख्या वृद्धि के आँकड़े एक साथ रखे जायें तो मुस्लिम जनसंख्या वृद्धि दर के ज़्यादा होने का वास्तविक कारण पता चलता है। सच्चर कमेटी की रिपोर्ट (2006) के हिसाब से 2004-05 में भारत में जहाँ औसत 22.7% आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे थी, वहीं मुस्लिमों में 31% आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे थी। शहरों में यह आँकड़ा और भयानक है, जहाँ 38.4% मुस्लिम आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे थी।

इसी रिपोर्ट के अनुसार भारत में राष्ट्रीय साक्षरता जहाँ 2001 में 65% थी, जिसमें हिन्दुओं की साक्षरता 70.8% थी, वहीं मुस्लिमों की साक्षरता मात्र 59.1% थी। शहरों में जहाँ हिन्दुओं में साक्षरता 85% थी, वहीं शहरों में ही मुस्लिमों की साक्षरता 70.1% थी। 6 से 14 साल के 25% मुस्लिम बच्चों ने या तो कभी विद्यालय का मुँह नहीं देखा था या पढ़ाई छोड़ दी थी। जबकि हिन्दुओं में यह 9% था।

जनसंख्या और एनएफ़एचएस के आँकड़े यह दिखाते हैं कि भारत में खराब आर्थिक हालत और कम पढ़ाई स्तर वाली आबादी ज़्यादा बच्चे पैदा करती है। इसके पीछे कई कारण होते हैं। ग़रीब परिवार होने से जितने बच्चे होंगे, उतने ज़्यादा काम करने वाले लोग होंगे, ऐसी मानसिकता होती है जो अधिक बच्चे पैदा करने के लिए एक वजह बनती है। इसके अतिरिक्त ग़रीब आबादी के बच्चे कुपोषण व अन्य छोटी-छोटी बीमारियों से सही इलाज न मिल पाने के कारण कई बार मर जाते हैं। साथ ही ग़रीब इलाक़ों से बच्चों के ग़ायब होने की घटनाएँ भी आम होती हैं, जिनको भीख माँगने और अमीरों के लिए किडनी निकालने के इस्तेमाल में लाया जाता है। इसलिए यह आबादी थोड़ी असुरक्षा की भावना में भी अधिक बच्चे पैदा करती है। परिवार नियोजन के प्रति ग़ैर जागरूकता भी ज़्यादा बच्चे होने के पीछे एक कारण है।

ऊपर की गणनाओं से हम देख चुके हैं कि भारत आगे कभी भी इस्लामिक राष्ट्र नहीं बन सकता, पर अगर संघ के फ़ासीवाद का तीव्र प्रतिरोध नहीं किया गया तो एक दिन यह इस्लामिक राष्ट्र जैसा ज़रूर बन जायेगा। जहाँ,

- ग़ैर-हिन्दुओं के हर त्यौहार-उत्सव पर रोक होगी,
- ग़ैर-हिन्दुओं को दोयम दर्जे का नागरिक समझ जायेगा,
- लड़कियों का जीन्स-टीशर्ट पहनना ग़ैर-क़ानूनी होगा,
- लड़कियों का रात 8 बजे घर से बाहर निकलना प्रतिबन्धित होगा,
- शादी से पहले प्यार प्रतिबन्धित होगा, पार्क में प्रेमी युगलों के बैठने पर पुलिस दोनों को पीटेगी और राखी बँधवायेगी,
- मनुस्मृति की आलोचना करने वालों की गर्दन काटी जायेगी,
- अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाना ग़ैर-क़ानूनी होगा।

तब भारत एक इस्लामिक मुल्क नहीं होगा, जबकि एक इस्लामिक मुल्क जैसा हिन्दू राष्ट्र होगा।

मिथक 3 : पाकिस्तान में आज़ादी के समय 15% हिन्दू थे जो आज बस 1.5% रह गये हैं। इसका कारण उनका क़त्लेआम और धर्मान्तरण है।

अक़्सर संघ वाले पाकिस्तान में हिन्दुओं की कम हो रही जनसंख्या के बारे में बताते हैं कि कैसे पाकिस्तान में मुस्लिमों ने वहाँ हिन्दू जनसंख्या को, जो आज़ादी के वक़्त 1947 में 15% थी, को घटाकर अब 1.5% कर दिया है। यह झूठ भी आरएसएस द्वारा फैलाये गये उन सैकड़ो झूठों में से एक है, जिसका इस्तेमाल वे मुस्लिमों के ख़िलाफ़ हिन्दू लोगों को भड़काने में करते हैं। फ़ेसबुक, वाट्सअप व अन्य नेटवर्किंग साइटों पर ये ऐसा मुस्लिम विरोधी प्रचार करते हैं और ज़्यादातर लोग इनकी साज़िशों में फँस भी जाते हैं।

पाकिस्तान में हिन्दुओं की जनसंख्या के बारे में अगर आँकड़ों की बात करें तो यह सही है कि 1947 में पाकिस्तान में हिन्दुओं की जनसंख्या 15% थी और यह भी सही है कि आज उनकी जनसंख्या 1.6% है, पर बीच की कहानी ग़ायब कर देने पर इससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि इस बीच बड़े पैमाने पर पाकिस्तान में हिन्दुओं का क़त्लेआम किया गया। इसीलिए ये अधुरा तथ्य एक साज़िशपूर्ण झूठ बन जाता है।

पाकिस्तान में हिन्दुओं का प्रतिशत

1931	15%
1941	14%
1951	1.3%
1961	1.4%
1981	1.5%
1998	1.6%
2011	2 %

वहीं भारतीय पंजाब में मुस्लिमों की जनसंख्या का प्रतिशत

1931- 52.4%
1941- 32.3%
1951- 0.8%
1961- 1.94%
1971- 0.84%
1981- 1.0%
1991- 1.2%
2001- 1.56%

ऊपर 1931 और 1941 के आँकड़े उन इलाक़ों के हैं जो 1947 के बाद पाकिस्तान में चले गये। आँकड़ों से साफ़ देखा जा सकता है कि 1951 आते-आते दोनों ही हिस्सों में जनसंख्या के प्रतिशत में बड़ा बदलाव आ चुका था।

इसका कारण यह है कि 1947 के बाद जो दोनों देशों में दंगे हुए जिसके फलस्वरूप दोनों देशों से बड़े पैमाने पर विस्थापन हुआ व साथ ही बहुत सारे लोग मारे भी गये। इस कारण से 1951 आते-आते पाकिस्तान में हिन्दुओं की जनसंख्या केवल 1.3% रह गयी। ठीक ऐसा ही भारतीय पंजाब में भी हुआ, जहाँ 1947 में मुस्लिमों की संख्या 33% थी, वो 1951 में 0.8% रह गयी जो अब 1.6% है।

अगर इस तथ्य को भी ग़लत तरीक़े से दिखाया जाये तो यह लग सकता है कि पंजाब में मुस्लिमों का बड़े पैमाने पर नरसंहार हुआ है, पर ऐसा नहीं है। जनसंख्या के आँकड़े इस बात को साबित कर देते हैं कि पाकिस्तान में हिन्दुओं की आबादी का घटना और भारतीय पंजाब में मुस्लिमों की आबादी का घटना दोनों ही आज़ादी के बाद बड़े पैमाने पर हुए विस्थापनों के फलस्वरूप हुए थे और यह प्रक्रिया 1951 तक की जनगणना में पूरी हो चुकी थी। 1951 के बाद पाकिस्तान में हिन्दुओं की आबादी थोड़ी ही सही पर बढ़ी है।

संघ और उसके तमाम अनुषंगी संगठन ऐसे झूठ फैलाकर हिन्दू जनता में मुस्लिमों के प्रति विद्वेष पैदा करने की कोशिश करते हैं। इसके अलावा ऐसे हज़ारों झूठ होते हैं जो रोज़ सोशल मीडिया पर फैलाये जाते हैं। इतने कि सबका जवाब देना सम्भव भी नहीं है। उनकी एक नीति यही है कि हम झूठ बोलते जायेंगे, तुम कितनों का पर्दाफ़ाश करोगे। तुम जब तक एक का पर्दाफ़ाश करोगे, हम 256 और झूठ बोल चुके होंगे। और हमारा झूठ करोड़ों लोगों तक पहुँच चुका होगा।

आज हज़ारों की संख्या में ऐसी फ़ेक न्यूज़ वेबसाइटें भी कुकुरमुत्तों की तरह उग आयी हैं। इनका काम ही यही है कि फ़ोटोशॉप करो, अफ़्रीका की वीडियो को भारत का बनाकर दिखाओ या अख़बार की ख़बर का शीर्षक बदल दो, कुछ भी करो। पर लोगों की आँख में लगातार धूल झोंककर अपनी साम्प्रदायिक राजनीति चमकाते जाओ। हज़ारों लोग इनके साइबर सेल में काम कर रहे हैं, जिन्हें बाक़ायदा वेतन मिलता है।

आज हम हर झूठ का पर्दाफ़ाश तो नहीं कर सकते पर आरएसएस की विचारधारा को पकड़ना ज़रूरी है। उसकी फ़ासीवादी विचारधारा के लिए यह ज़रूरी है कि वो एक आबादी को दूसरे की नज़र में दुश्मन साबित कर दे। जर्मनी के हिटलर ने भी यहूदियों के खिलाफ़ ऐसा झूठा प्रचार बड़े स्तर पर किया था। उसके प्रचार मन्त्री गोएबल्स का कहना था कि एक झूठ को सौ बार बोलो तो वो सच बन जाता है।

हिन्दू संस्कृति की रक्षा, भारत माता की जय, हिन्दू धर्म ख़तरे में है आदि नारों के पीछे ये दरअसल अम्बानी-अडानी जैसे मालिकों की सेवा में लीन हैं और जनता की जेब से आखिरी पैसा भी छीन लेने को आतुर हैं। साथ ही मन्दी के दौर में सरकार की लुटेरी नीतियों से पैदा हुए असन्तोष को मुस्लिमों की तरफ़ मोड़ देना चाहते हैं। आज हर इंसाफ़पसन्द नागरिक का यह कर्तव्य है कि वो इनका विरोध करे। क्योंकि अगर हम आज चुप बैठ गये तो कल हमारी बारी आयेगी। जैसा कि जर्मनी के कवि पास्टर निमोलर ने कहा था -

पहले वे आये कम्युनिस्टों के लिए
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं कम्युनिस्ट नहीं था।
फिर वे आये ट्रेड यूनियन वालों के लिए
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं ट्रेड यूनियन में नहीं था।
फिर वे आये यहूदियों के लिए
और मैं कुछ नहीं बोला
क्योंकि मैं यहूदी नहीं था।
फिर वे मेरे लिए आये
और तब तक कोई नहीं बचा था
जो मेरे लिए बोलता।

अख़बार केवल सामूहिक प्रचारक और सामूहिक आन्दोलनकर्ता ही नहीं बल्कि सामूहिक संगठनकर्ता का भी काम करता है

वी.आई. लेनिन

हमारी राय में, हमारे कामों की शुरुआत, जिस संगठन को हम बनाना चाहते हैं उसके निर्माण की दिशा में हमारा पहला कदम, एक अखिल रूसी राजनीतिक अख़बार की स्थापना होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि वही वह मुख्य सूत्र है जिसे पकड़ कर हम संगठन का लगातार विकास कर सकेंगे और उसे गहरा और विस्तृत बना सकेंगे। हमें सबसे ज्यादा ज़रूरत एक अख़बार की ही है; उसके बिना सिद्धान्तपूर्ण, व्यवस्थित और चौमुखी प्रचार और आन्दोलन के उस कार्य को हम नहीं कर सकते जो सामाजिक-जनवादी पार्टी का आमतौर से मुख्य और स्थायी काम है। और, इस समय, जब कि राजनीति तथा समाजवाद से सम्बन्धित सवालों के विषय में जनता के व्यापकतम हिस्सों में दिलचस्पी पैदा हो गयी है, यह काम और भी जरूरी बन गया है। व्यक्तिगत कार्रवाइयों, स्थानीय पर्चों, पत्रिकाओं आदि के रूप में चलने वाले छिटपुट आन्दोलन को एक आम व्यवस्थित आन्दोलन के जरिए बल पहुँचाने की आवश्यकता कभी इतनी तीव्रता से नहीं महसूस की गयी थी जितनी आज की जा रही है। और इस काम को केवल एक नियमित रूप से निकलने वाले अख़बार की मदद से ही किया जा सकता है। बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है कि इस तथ्य से कि अख़बार कितनी जल्दी-जल्दी और कितनी नियमितता से निकलता (और वितरित किया जाता) है इस बात का ठीक-ठीक अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि हमारी लड़ाकू कार्रवाइयों के इस मुख्य और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग को कितनी अच्छी तरह से पूरा किया जा रहा है। इसके अलावा, हमारे अख़बार को अखिल रूसी होना चाहिए। छपे शब्द के माध्यम से जनता और सरकार को प्रभावित करने के लिए अपने प्रयासों को यदि हम संयुक्त नहीं कर सकते तो—और जब तक ऐसा नहीं कर सकते तब तक—प्रभाव डालने के दूसरे, अधिक जटिल, अधिक कठिन, किन्तु, साथ ही अधिक निर्णायक तरीकों को जोड़कर और संगठित करके उनका इस्तेमाल करने का विचार मात्र काल्पनिक होगा। नन्हें-नन्हें टुकड़ों में बँटे होने तथा सामाजिक-जनवादियों के अधिकांश लोगों के लगभग पूरे तौर से स्थानीय कामों में डूबे रहने के कारण, हमारे आन्दोलन को, सर्वप्रथम विचारधारात्मक रूप से और फिर व्यावहारिक-सांगठनिक रूप से भी नुकसान पहुँचता है। स्थानीय कामों में इस तरह डूबे रहने के कारण सामाजिक-जनवादियों का दृष्टिकोण, उनकी गतिविधियों का दायरा, तथा गुप्त रूप से काम करने तथा अपनी तैयारी को कायम रखने की उनकी कार्य-निपुणता संकुचित हो जाती है। जिस अस्थिरता तथा जिस ढुलमुलपन का ऊपर उल्लेख किया गया है उसकी गहरी जड़ें आन्दोलन के छितराव की इसी अवस्था में पायी जा सकती हैं। इस कमज़ोरी को दूर करने और विभिन्न स्थानीय आन्दोलनों को एक अविभाजित अखिल-रूसी आन्दोलन का रूप देने के लिए, आवश्यक पहला कदम एक अखिल रूसी अख़बार की स्थापना करना होना चाहिए। अन्त में, हमें निश्चित रूप से एक राजनीतिक अख़बार की आवश्यकता है। एक राजनीतिक मुखपत्र के बिना किसी राजनीतिक आन्दोलन की, ऐसे किसी आन्दोलन की जो इस नाम को धारण करने का अधिकारी हो, आज के यूरोप में कल्पना तक नहीं की जा सकती। इस तरह के अख़बार के बिना हम अपने काम को, राजनीतिक असन्तोष और विरोध के तमाम तत्वों को एक जगह एकत्रित करने और उसके द्वारा सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन में जीवन संचार करने के काम को, कदापि पूरा नहीं कर सकते।

पहला कदम हमने उठा लिया है, "आर्थिक", फैक्टरी सम्बन्धी, भण्डाफोड़ करने के लिए मज़दूर वर्ग के अन्दर हमने एक जोश पैदा कर दिया है; अब हमें अगला कदम उठाना चाहिए; जनसंख्या के उस प्रत्येक अंग के अन्दर, जिसमें किंचित भी राजनीतिक चेतना पैदा हो गयी है, हमें राजनीतिक भण्डाफोड़ करने के लिए जोश जागृत करने का कदम उठाना चाहिए। इस बात से हमें हतोत्साहित नहीं होना चाहिए कि राजनीतिक भण्डाफोड़ की आवाज़ आज इतनी कमज़ोर और सहमी हुई है, और इतनी कम उठती है। इसकी वजह यह नहीं है कि पुलिस की निरंकुशता के सामने लोगों ने पूरे तौर से हथियार डाल दिये हैं, बल्कि इसकी वजह यह है कि जो लोग भण्डाफोड़ करने की क्षमता रखते हैं और उसके लिए तैयार हैं उनके पास ऐसा कोई मंच नहीं है जहां से वे बोल सकें, उनके पास उत्सुक और उत्साह दिलाने वाले ऐसे श्रोता नहीं हैं जिनसे वे बोल सकें, जनता के बीच उन्हें वह शक्ति कहीं नहीं दिखलायी देती जिसकी अदालत में "सर्वशक्तिशाली" रूसी सरकार के खिलाफ़ अपनी शिकायत करने से उन्हें कोई लाभ होगा।

परन्तु आज यह सब तेजी से बदल रहा है। अब ऐसी शक्ति पैदा हो गयी है—यह शक्ति है क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग। उसने न केवल उनकी बात सुनने और राजनीतिक संघर्ष के आह्वानों का समर्थन करने की, बल्कि साहसपूर्वक स्वयं मोर्चा लेने की भी अपनी तत्परता प्रदर्शित कर दी है। जारशाही रूस की सरकार के राष्ट्रव्यापी भण्डाफोड़ के लिए अब हम एक मंच प्रस्तुत कर सकते हैं, और हमारा कर्तव्य है कि इस काम को हम पूरा करें। ऐसा मंच एक सामाजिक-जनवादी अख़बार ही हो सकता है। रूस का मज़दूर वर्ग रूसी समाज के दूसरे वर्गों तथा अन्य स्तर के लोगों से भिन्न है : राजनीतिक ज्ञान प्राप्त करने में यह बराबर दिलचस्पी दिखलाता है और ग़ैर-कानूनी साहित्य की लगातार (केवल तीव्र उथल-पुथल के कालों में ही नहीं) तथा भारी मात्र में माँग करता है। ऐसे समय में जबकि जनता की इस तरह की माँग साफ-साफ दिखलायी देती है, जबकि अनुभवी क्रान्तिकारी नेताओं की ट्रेनिंग (शिक्षा-दीक्षा) शुरू हो चुकी है, और जबकि बड़े शहरों के मज़दूर इलाकों और फैक्टरी की बस्तियों और आबादियों में काफी मात्र में संकेन्द्रित हो जाने की वजह से मज़दूर वर्ग उन क्षेत्रों का वस्तुतः मालिक बन गया है तब सर्वहारा वर्ग के लिए राजनीतिक अख़बार निकालने का काम भी सर्वथा सम्भव बन गया है। सर्वहारा वर्ग के माध्यम से शहर के निम्न-पूँजीपति वर्ग, देहातों के दस्तकारों और किसानों तक अख़बार पहुँच जायेगा और, इस प्रकार, वह जनता का एक वास्तविक राजनीतिक समाचारपत्र बन जायेगा।

लेकिन अख़बार की भूमिका मात्र विचारों का प्रचार करने, राजनीतिक शिक्षा देने, तथा राजनीतिक सहयोगी भरती करने के काम तक ही नहीं सीमित होती। अख़बार केवल सामूहिक प्रचारक और सामूहिक आन्दोलनकर्ता का ही नहीं बल्कि एक सामूहिक संगठनकर्ता का भी काम करता है। इस दृष्टि से उसकी तुलना किसी बनती हुई इमारत के चारों ओर खड़े किये गये बल्लियों के ढाँचे से की जा सकती है। इस ढाँचे से इमारत की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है और इमारत बनाने वालों को एक दूसरे के पास आने-जाने में सहायता मिलती है जिससे वे काम का बँटवारा कर सकते हैं और अपने संगठित श्रम के संयुक्त परिणामों पर विचार-विनिमय कर सकते हैं। अख़बार की मदद और उसके माध्यम से, स्वाभाविक रूप से, एक स्थायी संगठन खड़ा हो जायेगा जो न केवल स्थानीय गतिविधियों में, बल्कि नियमित आम कार्यों में भी हिस्सा लेगा, और अपने सदस्यों को इस बात की ट्रेनिंग देगा कि राजनीतिक घटनाओं का वे सावधानी से निरीक्षण करते रहें, उनके महत्व और आबादी के विभिन्न अंगों पर उनके प्रभाव का मूल्यांकन करें, और ऐसे कारगर उपाय निकालें जिनके द्वारा क्रान्तिकारी पार्टी उन घटनाओं को प्रभावित करे। अख़बार के लिए नियमित रूप से सामग्री जमा करने तथा उसके नियमित वितरण की व्यवस्था कायम करने के मात्र प्राविधिक काम के लिए भी आवश्यक होगा कि एकताबद्ध पार्टी के ऐसे स्थानीय एजेन्टों का जाल बिछा दिया जाये जो एक-दूसरे के साथ निरन्तर सम्पर्क रखेंगे, आम हालात की जानकारी प्राप्त करेंगे, अखिल रूसी कार्य-योजना के अन्तर्गत अपने निर्धारित कार्यों को नियमित रूप से पूरा करने के आदी हो जायेंगे, और विभिन्न क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के संगठन-कार्य के द्वारा अपनी शक्ति की परीक्षा करेंगे।

(प्रसिद्ध लेख 'कहाँ से शुरू करें' के अंश, 'इस्क्रा के चौथे अंक, मई 1901 में प्रकाशित)

भारत में सूचना तकनीक (आईटी) क्षेत्र के लाखों कर्मचारियों पर लटकी छँटनी की तलवार

2014 में मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा सरकार करोड़ों नये रोज़गार पैदा करने के वादे के साथ सत्ता में आयी थी। देश को साम्प्रदायिक रंग में रँगने, संघ के लोगों की गुण्डागर्दी, दलितों और अल्पसंख्यकों को दबाने, संघ के हिन्दुत्वी एजण्डे को लागू करने में मोदी सरकार ने बड़े क़दम तो ज़रूर उठाये हैं, लेकिन नया रोज़गार पैदा नहीं हुआ। अभी-अभी ही मोदी सरकार पूरी बेशर्मी से अपने तीन वर्ष पूरे होने का जश्न मनाकर हटी है। वह भी उस समय जब भारत में रोज़गार के पक्ष से सबसे सुरक्षित माने जाने वाले सूचना तकनीक क्षेत्र में काम कर रहे लाखों इंजीनियरों के सिर पर छँटनी की तलवार लटक रही है।

भारत में नये रोज़गार पैदा होने की दर पिछले दो दशकों के दौरान सबसे कम पर पहुँची है। भारत में हर वर्ष 15 लाख इंजीनियर श्रम बाज़ार में शामिल होते हैं। इनमें से सिर्फ़ 5 लाख ही रोज़गार हासिल कर पाते हैं। जिनमें देश की मशहूर और बड़ी इंजीनियरिंग संस्थाओं के अलावा बड़ी गिनती में मशरूम की तरह उगे नये-नये इंजीनियरिंग कॉलेजों और यूनीवर्सिटियों में डिगरियाँ लेकर निकले नौजवानों की है।

मौजूदा हालात ये हैं कि आईआईटी जैसी संस्थाओं में से इस वर्ष 66 फ़ीसदी विद्यार्थी ही कैम्पस प्लेसमेण्ट के दौरान रोज़गार हासिल कर पाये। इंजीनियरिंग करने के बाद हालत यह है कि बड़ी संख्या में नौजवान गले में डिगरी लटकाकर नौकरी के लिए धक्के खा रहे हैं। जो रोज़गार हासिल करने में क़ामयाब हो भी जाते हैं, वे भी छोटी-छोटी कम्पनियों में 10 से 15 हज़ार तक वेतन पर लगातार छँटनी के डर से काम कर रहे हैं। आईटी क्षेत्र की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में रोज़गार हासिल करना मध्यवर्ग का सपना रहा है। क़र्ज़ लेकर या अपनी ज़िन्दगी की पूरी कमाई लगा कर मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा अपने बच्चों पर निवेश करता है। लेकिन अब यह सपना लगातार टूट रहा है।

कारपोरेट संस्कृति से लबरेज़ इंजीनियरिंग और सूचना तकनीक क्षेत्र का यह वर्ग जिसके दिमाग़ में पेशेवर कॉलेज़ों-यूनीवर्सिटियों और कारपोरेट ट्रेनिंग संस्थाओं द्वारा यह विचार कूट-कूटकर भरा जाता है कि इस क्षेत्र में वही तरक़्क़ी कर सकता है जो क़ाबिल है, आपको मुक़ाबले के लिए तैयार रहना चाहिए, नहीं तो कोई और तुम्हें हरा कर आगे निकल जायेगा। कम्पनी के लिए जी-जान से काम करो, कम्पनी की तरक़्क़ी का मतलब है आपकी तरक़्क़ी। यह विचार दिमाग़ में भरा जाता है कि जिसने बड़ी कम्पनी में रोज़गार हासिल कर लिया है, वह दूसरों से ज़रूर ही बेहतर होगा। इस वर्ग की समझ के मुताबिक़ यूनियन से जुड़ना, धरना-प्रदर्शन करना सिर्फ़ नाकाम और नाक़ाबिल लोगों का काम था। मुक़ाबले की अन्धी दौड़ में दूसरों को पीछे छोड़ने का विचार इस वर्ग की सोच में पढ़ाई के समय से ही भरा जाता रहा है। लेकिन मौजूदा झटके ने इसे अहसास करवा दिया है कि वह भी पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा बटोरने का सिर्फ़ एक साधन-मात्र ही है। अब यह वर्ग भी संघर्ष करने और यूनियन में एकजुट होने की ज़रूरत महसूस कर रहा है।

पिछले कुछ महीनों में देश की सात बड़ी सूचना तकनीक क्षेत्र की कम्पनियों ने हज़ारों इंजीनियरों को बाहर का रास्ता दिखाया है। यह भी ख़बर है कि इसी वर्ष लगभग 56,000 इस क्षेत्र के कर्मचारियों की नौकरियाँ छिनने का ख़तरा है। हैड हण्टर की रिपोर्ट के मुताबिक़ आने वाले तीन वर्षों के लिए हर वर्ष पौने दो लाख से 2 लाख इंजीनियर अपनी नौकरियाँ खो सकते हैं। मैकिनसी कारपोरेशन की यह रिपोर्ट है कि आने वाले तीन से चार वर्षों तक सूचना तकनीक क्षेत्र की लगभग आधी श्रम-शक्ति ग़ैर-प्रासंगिक हो जायेगी।

ये छँटनियाँ सिर्फ़ सूचना तकनीक कम्पनियों में ही नहीं बल्कि पिछले एक वर्ष के दौरान देश के टेलीकॉम क्षेत्र में लगभग 10,000 लोगों की छँटनी की जा चुकी है। फ़ाइनेंशियल एक्सप्रेस के मुताबिक़ इस क्षेत्र में इस वर्ष लगभग 30 से 40 हज़ार लोगों को अपने रोज़गार से हाथ धोना पड़ सकता है। एचडीएफ़सी बैंक में अक्टूबर 2016 से मार्च 2017 तक 16,000 मुलाज़िम अपना रोज़गार गँवा चुके हैं। देश की सबसे बड़ी इंजीनियरिंग कम्पनी एल एण्ड टी द्वारा पिछले महीने 14,000 कर्मचारियों को निकाला गया था।

मौजूदा हालातों के लिए कौन है ज़िम्मेदार

मन्दी की शिकार विश्व अर्थव्यवस्था के सामने अब यही विकल्प है कि वह नयी तकनीक लाकर बाज़ार में अधिक से अधिक पूँजी निवेश करे और इसके साथ ही श्रम पर अपना ख़र्चा कम करे ताकि मुनाफ़े की दर बढ़ाई जा सके। जिसका नतीजा बेरोज़गारी के बढ़ने, ख़रीद-शक्ति के कम होने में निकल रहा है और जिससे मुनाफ़ा फिर कम हो रहा है।

मौजूदा समय में सूचना तकनीक (आईटी) क्षेत्र भी इस समस्या से जूझ रहा है। 15,000 करोड़ की आईटी उद्योग (मोदी सरकार का कहना है कि इसे दोगुना किया जायेगा) का देश के सकल घरेलू उत्पादन में 9.3 फ़ीसदी हिस्सा है। यह भी सम्भावना जतायी जा रही है कि इस क्षेत्र के कर्मचारियों का रोज़गार छिनने का असर बैंकिंग क्षेत्र

(पेज 8 पर जारी)

उत्तरी कोरिया के मिसाइल परीक्षण और तीखी होती अन्तर-साम्राज्यवादी कलह

- नवगीत

मई महीने के आखिरी तीन हफ़्तों में उत्तरी कोरिया ने लगातार तीन मिसाइल टेस्ट किये हैं। अगर पिछले डेढ़ वर्षों की बात करें तो 2016 के शुरू से लेकर अब तक उत्तरी कोरिया दर्जनों मिसाइल टेस्ट और दो परमाणु धमाके कर चुका है। इसके साथ ही उत्तरी कोरिया को "गम्भीर नतीजे" भुगतने की अमेरिकी साम्राज्यवादी धमकियाँ एक बार फिर ख़बरों में हैं। अमेरिका 1950 के दशक के कोरिया युद्ध से लेकर अब तक, लगातार उत्तरी कोरिया को "विश्व शान्ति और सुरक्षा" के लिए ख़तरा बताता रहा है, साम्राज्यवादी मीडिया तन्त्र से लेकर हॉलीवुड फ़िल्मों तक, सब तरह-तरह की झूठी सनसनीखेज़ कहानियाँ बनाकर अमेरिका के प्रचार को सच्चाई का जामा पहनाने में आज तक लगे हुए हैं। लेकिन क्या उत्तरी कोरिया जैसा एक ग़रीब देश जो चारों तरफ़ से अमेरिकी फ़ौजी शक्ति से घिरा हुआ है, वाक़ई कोई ख़तरा है? क्या उत्तरी कोरिया दुनिया को तबाह करने में लगा हुआ है? उत्तरी कोरिया द्वारा बार-बार मिसाइल और परमाणु परीक्षण करने के पीछे क्या कारण हैं? इन प्रश्नों के जवाब जानने के लिए हमें उत्तरी कोरिया के अस्तित्व में आने का इतिहास जानना होगा।

1910 में कोरिया पर जापानी साम्राज्यवाद क़ब्ज़ा कर लेता है। इससे पहले कोरिया पर कोरियाई सल्तनत का राज था। जापानियों ने क़ब्ज़ा करने के बाद कोरिया की जनता पर भयंकर ज़ुल्म किये; कोरियाई भाषा पर पाबन्दी लगा दी गयी, कोरिया की जनता को जापानी नाम रखने के लिए मजबूर किया गया और इलाक़े की भयंकर आर्थिक और इंसानी लूट की गयी। 1945 में जब दूसरे विश्व युद्ध के ख़त्म होते-होते जापान मित्र शक्तियों से हार गया तो उस समय कोरिया में सोवियत और अमेरिकी सेनाएँ मौजूद थीं। इसके साथ, कोरिया की घरेलू राजनीतिक ताक़तें भी सक्रिय थीं, जिनमें मुख्य थीं - कम्युनिस्ट और राष्ट्रवादी, जो कोरिया की मुक्ति के लिए लड़ रही थीं। इसके अलावा दक्षिणपन्थी ताक़तें भी मौजूद थीं। 1945 में युद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत यूनियन और साम्राज्यवादी ताक़तें जिनका चौधरी अब अमेरिका था, उनके बीच समझौता हो गया और तय हो गया कि 1948 तक कोरिया में आम चुनाव करवाकर सत्ता स्थानीय सरकार के सुपुर्द कर दी जाये, तब तक सोवियत फ़ौजें और अमेरिकी फ़ौजें अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में बनी रहें। लेकिन अमेरिका इस समझौते से इंकार कर गया, क्योंकि कोरिया के घरेलू हालात साफ़ बता रहे थे कि चुनाव होने पर कम्युनिस्टों और राष्ट्रवादियों का गुट सत्ता में आयेगा और ऐसा अमेरिका किसी हालत में भी नहीं चाहता था। समझौते से इनकार करने के बाद, अमेरिका ने कोरिया के दो हिस्सों में अस्थायी बँटवारे को अलग-अलग देशों का रूप दे दिया व इसे और पक्का करने के लिए दक्षिणपन्थी नेता सिंगमान री को कोरिया का राष्ट्रपति बना दिया। सिंगमान री के राष्ट्रपति बनते ही कोरिया के दक्षिणी हिस्से जो अब दक्षिणी कोरिया हो गया था, में कम्युनिस्टों की धरपकड़ और क़त्लेआम शुरू हो गया। इसी दौरान दक्षिणी कोरिया के एक टापू "जेजू" में वामपन्थियों के नेतृत्व में बग़ावत हो गयी। इस बग़ावत को कुचलने के लिए कोरिया की फ़ौज ने अपने अमेरिकी अफ़सरों की हाज़िरी में लगभग 60,000 लोगों का क़त्लेआम किया और इस टापू के दो-तिहाई गाँवों को जलाकर राख कर दिया। इस क़त्लेआम को पिछले समय में दक्षिणी कोरिया सरकारी तौर पर मान चुका है।

इसी दौरान 1950 में कोरिया के राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों ने देश को इकट्ठा करने के लिए हमला शुरू किया। यहाँ 1950-1953 का चार-वर्षीय कोरिया युद्ध का आरम्भ हुआ। उस समय विश्व स्तर पर समाजवादी शिविर अस्तित्व में आ चुका था और समाजवादी शिविर और पूँजीवादी शिविर का अन्तरविरोध विश्वस्तर पर मुख्य अन्तरविरोध बना हुआ था। उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया की सरहद समाजवादी और पूँजीवादी शिविर के टकराव का बिन्दु बन गयी थी। उत्तरी कोरिया को सोवियत यूनियन की हिमायत हासिल थी, जबकि दक्षिणी कोरिया को अमेरिकी साम्राज्यवाद अपना फ़ौजी ठिकाना बनाकर रखने के लिए हर क़ीमत पर अलग देश बनाये रखना चाहता था। शुरू में उत्तरी कोरिया को सफलता मिली और उसने दक्षिणी कोरिया की फ़ौजों को एक छोटे से क्षेत्र में धकेल दिया। इस मोड़ पर अमेरिका सीधे ही युद्ध में शामिल हो गया, उसने दक्षिणी कोरिया को युद्ध के साजो-सामान देने के साथ ही 3,00,000 अमेरिकी फ़ौजी भी युद्ध में धकेल दिये। उत्तरी कोरिया पर अमेरिकी जहाज़ों ने "कार्पेट बॉम्बिंग" की। इस भारी बमबारी में बिना कोई निशाना बाँधे अन्धाधुन्ध बम फेंके जाते हैं। अमेरिका ने इस बमबारी के पहले दिन उत्तरी कोरिया के आबादी वाले क्षेत्रों में 650 टन बम फेंके, बाद में यह मात्रा बढ़कर 800 टन प्रतिदिन हो गयी। अकेले उत्तरी कोरिया पर इतने बम फेंके गये, जितने विश्व युद्ध के दौरान अमेरिका ने पूरे प्रशान्त क्षेत्र में नहीं फेंके थे। इसके परिणामस्वरूप उत्तरी कोरिया मलबे का एक ढेर बन गया, पूरे उत्तरी कोरिया में एक मंज़िल से अधिक वाली एक भी इमारत नहीं बची रह गयी। यालू नदी पर बने बाँधों को निशाना बनाया गया, जिसके कारण बड़े इलाक़े में बाढ़ आयी और फ़सलें तबाह हो गयीं। कम्युनिस्टों के प्रभाव वाले इलाक़ों में साम्राज्यवादियों द्वारा बड़े-बड़े क़त्लेआम किये गये, जिनमें सबसे बड़ा क़त्लेआम 'बोडो लीग क़त्लेआम' है जिसमें अन्दाज़न 2 से 10 लाख के बीच कम्युनिस्ट, उनके हमदर्दों और साधारण नागरिकों, औरतों और बच्चों को मार डाला गया।

कम्युनिस्ट हार रहे थे। उधर साफ़ हो रहा था कि अमेरिका का निशाना सिर्फ़ कोरिया ही नहीं बल्कि क्रान्तिकारी चीन भी है, अमेरिकी साम्राज्यवाद क्रान्तिकारी चीन के खिलाफ़ परमाणु बम इस्तेमाल करने की धमकियाँ देने लग गया था। परिणामस्वरूप चीन भी उत्तर कोरिया के पक्ष में युद्ध में शामिल हो गया। नये सिरे से ताक़तवर होकर कम्युनिस्टों ने दक्षिणी कोरिया और अमेरिकी फ़ौजों को 1950 के क़ब्ज़े वाले इलाक़े तक धकेल दिया। लेकिन यह स्पष्ट हो रहा था कि कोई भी मुक़म्मल जीत प्राप्त नहीं कर सकेगा। युद्धबन्दी का समझौता हो गया, लेकिन शान्ति सन्धि नहीं हुई और आज तक भी उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में शान्ति सन्धि नहीं हुई है, क्योंकि अमेरिकी साम्राज्यवाद यह चाहता ही नहीं। चार वर्ष चले कोरियाई युद्ध में मरने वाली जनता की गिनती 25 लाख से ऊपर होने का अन्दाज़ा है, जिनमें 9 लाख चीनी फ़ौजी भी शामिल हैं। इस तरह यह युद्ध वियतनाम युद्ध जितना ही भयंकर था और साम्राज्यवादियों की क़रतूतें भी उतनी ही मानवता-विरोधी और वहशी थीं। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखते कोई भी स्वाभाविक ही समझ सकता है कि उत्तरी कोरिया की जनता अमेरिकी साम्राज्यवादियों पर कितना विश्वास कर सकती है।

1953 का युद्ध ख़त्म होने और स्तालिन की मौत के बाद, उत्तरी कोरिया की अन्तरराष्ट्रीय समाजवादी शिविर में डाँवाँडोल परिस्थिति रही और उसने संशोधनवादी सोवियत यूनियन और माओवादी चीन दोनों से सम्बन्ध बनाये रखने की नीति अपनायी। 1976 में माओ के निधन और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद उत्तरी कोरिया सोवियत संघ के और नज़दीक हो गया और चीन से दूरी बनानी शुरू कर दी। दक्षिणी कोरिया और उत्तरी कोरिया की सरहद सोवियत साम्राज्यवादियों और अमेरिकी साम्राज्यवादियों की कलह का बिन्दु बन गयी। इस पूरे अरसे के दौरान अमेरिका ने दक्षिणी कोरिया में परमाणु हथियार तैनात करके रखे हुए थे। परिणामस्वरूप कई दशकों तक उत्तरी कोरिया की जनता परमाणु हमले के साये में जीती रही। इसके जवाब में उत्तरी कोरिया ने ख़ुद परमाणु हथियार विकसित करने कोशिशें आरम्भ कीं। अब चाहे अमेरिका यह कहता है कि दक्षिणी कोरिया से उसने परमाणु हथियार हटा लिये हैं, लेकिन अमेरिकी "सच" का विश्वास कौन करे! 1991 में सोवियत संघ के टूटने के बाद एक बार फिर उत्तरी कोरिया ने चीन से सम्बन्ध सुधारने शुरू किये। 1994 में किम उल-सुंग (उत्तरी कोरिया के पहले राष्ट्रपति) की मौत के बाद उत्तरी कोरिया ने अमेरिका से एक समझौते के तहत परमाणु हथियार बनाने के कार्यक्रम को ठप्प करने की बात मानी, ताकि अमेरिका उत्तरी कोरिया को बिजली पैदा करने के लिए परमाणु रिएक्टर लगाने दे। लेकिन अमेरिका ने यह समझौता कभी भी लागू नहीं किया और 2002 में इस समझौते का अन्त हो गया। लेकिन उत्तरी कोरिया अपना पूरा ज़ोर लगाने के बावजूद अभी तक ऐसी कोई फ़ौजी ताक़त नहीं बना पाया है कि वह अमेरिका के लिए सीधे रूप में ख़तरा हो। उसके सारे "सैन्य" कार्यक्रम का मक़सद दक्षिणी कोरिया और जापान पर हमले की धमकी देकर अमेरिकी हमले से अपना बचाव करना है, जो कि इराक़, लीबिया तथा अन्य देशों की अमेरिका द्वारा की गयी हालत को देखते हुए समझा जा सकता है।

साम्राज्यवादियों की कठपुतली संयुक्त राष्ट्र ने उत्तरी कोरिया पर पिछले 60 वर्षों से व्यापारिक पाबन्दियाँ लगा रखी हैं। उत्तरी कोरिया इस समय विश्व में सबसे अलग-थलग पड़ा देश है, जिसके चलते उत्तरी कोरिया की साधारण जनता को भयंकर मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है। 1991 से पहले सोवियत यूनियन के साथ होते व्यापार और उससे मिलती सहायता के बल पर उत्तरी कोरिया इन पाबन्दियों का असर ख़त्म करने में क़ामयाब था, लेकिन सोवियत यूनियन टूटने के बाद उत्तरी कोरिया की अर्थव्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था बुरी तरह से हिल गयी है। एक ओर व्यापारिक पाबन्दियाँ, और दूसरी तरफ़ 1990 के दशक में सूखा और खराब हुई फ़सलों के कारण उत्तरी कोरिया में अनाज की उपलब्धता बुरी तरह से प्रभावित हुई है और इसके अलावा, दवाइयाँ और मेडिकल साजो-सामान का निर्यात भी पाबन्दियों के घेरे में होने के चलते उत्तरी कोरिया की स्वास्थ्य व्यवस्था भी बुरी हालत में है। 1990 के दशक में कुपोषण और स्वास्थ्य सुविधाओं के ख़त्म होने के कारण 10 लाख से अधिक लोगों के ग़ैर-प्राकृतिक तौर पर मारे जाने का अनुमान है। अब उत्तरी कोरिया अपने व्यापार के लिए लगभग पूरी तरह चीन पर निर्भर है, जिसका चीन पूरा लाभ ले रहा है।

बदले हालात, बदले रंग

1950 के कोरिया युद्ध के समय चीन और उत्तरी कोरिया में शुरू हुए फ़ौजी गठबन्धन को 1961 में बाक़ायदा एक समझौते का रूप दिया गया, जिसके तहत यह तय हुआ कि चीन किसी भी साम्राज्यवादी हमले की हालत में उत्तरी कोरिया की सुरक्षा करेगा। 1976 में चीन में प्रतिक्रान्तिकारी तख़्तापलट होने के बाद भी यह समझौता लागू रहा है, हालाँकि अब इसके पीछे पूँजीवादी हित थे, न कि साम्राज्यवादियों के खिलाफ़ संयुक्त मोर्चे की भावना। भले ही अभी भी 2021 तक इस समझौते की अवधि बनी हुई है, लेकिन बदलती परिस्थितियों ने चीन का रुख़ भी बदलना शुरू कर दिया है। चीन के अन्दर भिन्न-भिन्न बुद्धिजीवी वर्गों (पूँजीवादी के थिंक टैंक जो राष्ट्रीय सुरक्षा संस्था, कमिशन, माहिर आदि नामों से ख़ुद को छुपाकर रखते हैं) में समझौते को नये हालात की नज़र में देखने की आवाज़ें उठनी शुरू हो गयी हैं। पूँजीवादी चीन के हित चाहते हैं कि ऐसे युद्ध से बचा जाये जो इस क्षेत्र में छिड़े और चीन के लिए व्यापक तबाही लेकर आये। लेकिन इसके साथ ही वे किसी भी सूरत में उत्तरी कोरिया में सत्ता-परिवर्तन या कोरिया की एकता की सूरत में समूचे कोरिया को अमेरिकी फ़ौजी अड्डे के रूप में नहीं देखना चाहते, क्योंकि ऐसी हालत में चीन की कोरिया से लगने वाली 1400 किलोमीटर सरहद सीधी अमेरिकी मोर्चा बन जायेगी। अमेरिकी साम्राज्यवादी भी चीन की उलझन भरी हालत को समझ रहा है। ट्रम्प एक ओर चीन को सीरिया और अफ़ग़ानिस्तान पर मिसाइलें दागकर धमकियाँ दे रहा है। दूसरी ओर ट्रम्प का डिप्टी माइक पैंस "सभी हल सम्भव हैं" की कूटनीति खेल रहा है, जापान का प्रधानमन्त्री शिबो ऐबे उत्तरी कोरिया से निपटने के लिए अमेरिका का पूरा साथ देने का "वादा" कर रहा है। घरेलू परिस्थितियों और अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के मद्देनज़र चीन का उत्तरी कोरिया के प्रति बदला रुख़ अब खुलके सामने आ रहा है।

चीन अब एक ओर अमेरिका को "संयम" के इस्तेमाल और कोई ऐसी स्थिति न पैदा करने की सलाह दे रहा है, जिसके चलते उसे उत्तरी कोरिया के अधिकार में युद्ध में उतरना पड़े। लेकिन इन खोखली बातों के पर्दे तले वह भी अमेरिकी सुर में सुर मिलाकर उत्तरी कोरिया को पाबन्दियों का डर न सिर्फ़ दिखा ही रहा है, बल्कि लागू भी कर रहा है। उत्तरी कोरिया का तीन-चौथाई व्यापार चीन से है, इसे चीन उत्तरी कोरिया का हाथ मरोड़ने का सही नुक्ता मान रहा है। इस वर्ष फ़रवरी से चीन ने उत्तरी कोरिया से कोयला ख़रीदना बन्द कर दिया है, उत्तरी कोरिया की विदेशी मुद्रा का 40% हिस्सा कोयला बेचने से ही हासिल होता है। इसके साथ ही दूसरे खनिजों की ख़रीद भी कम कर दी गयी है। उत्तरी कोरिया पैट्रोलियम के लिए पूरी तरह निर्यात, जिसका स्रोत चीन ही है, उस पर ही निर्भर है। चीन ने हवाई जहाज़ों में इस्तेमाल किया जाने वाला पैट्रोल सप्लाई करना बन्द कर दिया है, और बाक़ी पैट्रोलियम पदार्थों की सप्लाई बन्द करने की धमकी भी दे रहा है। चीन के इन सभी क़दमों का मक़सद उत्तरी कोरिया के परमाणु परीक्षण रोकना है, ताकि कोई भी सम्भावित अमेरिकी हमले को रोका जा सके। फ़िलहाल उत्तरी कोरिया चीन की सलाहों और गीदड़ भभकियों को सुन नहीं रहा है, जिसके पीछे असली कारण उत्तरी कोरिया को एक ओर तरफ़ से हिमायत मिलने की उम्मीद बँधी है।

साम्राज्यवादी दुनिया में इस समय अमेरिका और रूस के सम्बन्ध बिगड़े हुए हैं। रूस ने पहले सीरिया में अमेरिकी "अश्वमेधी घोड़े" की राह रोकी है, अब वह इस घोड़े की लगाम उत्तरी कोरिया में कसने की तैयारी कर रहा है। जैसे-जैसे चीन उत्तरी कोरिया की परमाणु कार्यक्रम रोकने की कोशिश कर रहा है, रूस उसे न सिर्फ़ प्रोत्साहित कर रहा है, बल्कि उत्तरी कोरिया का नया "गार्डियन" बनकर सामने आ रहा है। ट्रम्प की धमकियों के जवाब में रूस ने अमेरिका को ऐसा कोई भी "दुस्साहसवादी क़दम" उठाने के खिलाफ़ चेतावनी दी है। रूस का तेल उत्तरी कोरिया के जहाज़ों और पम्पों पर चीनी तेल की जगह लेनी शुरू कर चुका है और रूस की बन्दरगाह व्लादीवोस्तोक से उत्तरी कोरिया की बन्दरगाह राजिन तक परिवहन तेज़ी से बढ़ रहा है। उत्तरी कोरिया को मिले सोवियत दौर के सारे क़र्ज़े रूस ने पहले ही माफ़ कर दिये हैं। ये हैं साम्राज्यवादी देशों की मित्रताएँ-शत्रुताएँ!! साम्राज्यवादी देशों के आपसी अन्तरविरोध इतने उलझे होते हैं कि ये एक तरफ़ सुलझने की आस बँधाते हैं, तो किसी दूसरी तरफ़ और उलझने लगते हैं। सीरिया में रूस और चीन, इराक़ और सीरिया से साँझा मोर्चा खोल रहे हैं, लेकिन कोरिया तक पहुँचते-पहुँचते रूस के हित चीनी हितों से टकराने लगते हैं।

(पेज 15 पर जारी)

जन्मदिवस (31 जुलाई के अवसर पर)

साम्प्रदायिकता और संस्कृति

प्रेमचन्द

साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलने में शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल में जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़कर आती है। हिन्दू अपनी संस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी संस्कृति को। दोनों ही अभी तक अपनी-अपनी संस्कृति को अछूती समझ रहे हैं, यह भूल गये हैं कि अब न कहीं हिन्दू संस्कृति है, न मुस्लिम संस्कृति और न कोई अन्य संस्कृति। अब संसार में केवल एक संस्कृति है, और वह है आर्थिक संस्कृति मगर आज भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं। हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है। हिन्दू मूर्तिपूजक हैं, तो क्या मुसलमान क़ब्रपूजक और स्थान-पूजक नहीं है। ताज़िये को शर्बत और शीरीनी कौन चढ़ाता है, मस्जिद को ख़ुदा का घर कौन समझता है। अगर मुसलमानों में एक सम्प्रदाय ऐसा है, जो बड़े से बड़े पैगम्बरों के सामने सिर झुकाना भी कुफ्र समझता है, तो हिन्दुओं में भी एक ऐसा है जो देवताओं को पत्थर के टुकड़े और नदियों को पानी की धारा और धर्मग्रन्थों को गपोड़े समझता है। यहाँ तो हमें दोनों संस्कृतियों में कोई अन्तर नहीं दिखता।

तो क्या भाषा का अन्तर है? बिल्कुल नहीं। मुसलमान उर्दू को अपनी मिल्ली भाषा कह लें, मगर मद्रासी मुसलमान के लिए उर्दू वैसी ही अपरिचित वस्तु है, जैसे मद्रासी हिन्दू के लिए संस्कृत। हिन्दू या मुसलमान जिस प्रान्त में रहते हैं सर्वसाधारण की भाषा बोलते हैं, चाहे वह उर्दू हो या हिन्दी, बंग्ला हो या मराठी। बंगाली मुसलमान उसी तरह उर्दू नहीं बोल सकता और न समझ सकता है, जिस तरह बंगाली हिन्दू। दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। सीमाप्रान्त का हिन्दू उसी तरह पश्तो बोलता है, जैसे वहाँ का मुसलमान।

फिर क्या पहनावे में अन्तर है? सीमाप्रान्त के हिन्दू और मुसलमान स्त्रियों की तरह कुरता और ओढ़नी पहनते-ओढ़ते हैं। हिन्दू पुरुष भी मुसलमानों की तरह कुलाह और पगड़ी बाँधता है। अक्सर दोनों ही दाढ़ी भी रखते हैं। बंगाल में जाइए, वहाँ हिन्दू और मुसलमान स्त्रियाँ दोनों ही साड़ी पहनती हैं, हिन्दू और मुसलमान पुरुष दोनों कुरता और धोती पहनते हैं, तहमद की प्रथा बहुत हाल में चली है, जब से साम्प्रदायिकता ने ज़ोर पकड़ा है।

खान-पान को लीजिए। अगर मुसलमान मांस खाते हैं, तो हिन्दू भी अस्सी फ़ीसदी मांस खाते हैं। ऊँचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते हैं, ऊँचे दरजे के मुसलमान भी। नीचे दरजे के हिन्दू भी शराब पीते है, नीचे दरजे के मुसलमान भी। मध्यवर्ग के हिन्दू या तो बहुत कम शराब पीते हैं, या भंग के गोले चढ़ाते हैं, जिसका नेता हमारा पण्डा-पुजारी क्लास है। मध्यवर्ग के मुसलमान भी बहुत कम शराब पीते है, हाँ कुछ लोग अफ़ीम की पीनक अवश्य लेते हैं, मगर इस पीनकबाज़ी में हिन्दू भाई मुसलमानों से पीछे नहीं है। हाँ, मुसलमान गाय की क़ुर्बानी करते हैं। और उनका मांस खाते हैं, लेकिन हिन्दुओं में भी ऐसी जातियाँ मौजूद हैं, जो गाय का मांस खाती हैं यहाँ तक कि मृतक मांस भी नहीं छोड़तीं, हालाँकि बधिक और मृतक मांस में विशेष अन्तर नहीं है। संसार में हिन्दू ही एक जाति है, जो गो-मांस को अखाद्य या अपवित्र समझती है। तो क्या इसलिए हिन्दुओं को समस्त विश्व से धर्म-संग्राम छेड़ देना चाहिए?

संगीत और चित्रकला भी संस्कृति का एक अंग है, लेकिन यहाँ भी हम कोई सांस्कृतिक भेद नहीं पाते। वही राग-रागनियाँ दोनों गाते हैं और मुग़लकाल की चित्रकला से भी हम परिचित हैं। नाट्य कला पहले मुसलमानों में न रही हो, लेकिन आज इस सींगे में भी हम मुसलमान को उसी तरह पाते हैं जैसे हिन्दुओं को।

फिर हमारी समझ में नहीं आता कि वह कौन सी संस्कृति है, जिसकी रक्षा के लिए साम्प्रदायिकता इतना ज़ोर बाँध रही है। वास्तव में संस्कृति की पुकार केवल ढोंग है, निरा पाखण्ड। शीतल छाया में बैठे विहार करते हैं। यह सीधे-सादे आदमियों को साम्प्रदायिकता की ओर घसीट लाने का केवल एक मन्त्र है और कुछ नहीं। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के रक्षक वही महानुभाव और वही समुदाय हैं, जिनको अपने ऊपर, अपने देशवासियों के ऊपर और सत्य के ऊपर कोई भरोसा नहीं, इसलिए अनन्त तक एक ऐसी शक्ति की ज़रूरत समझते हैं जो उनके झगड़ों में सरपंच का काम करती रहे।

इन संस्थाओं को जनता के सुख-दुख से कोई मतलब नहीं, उनके पास ऐसा कोई सामाजिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है, जिसे राष्ट्र के सामने रख सकें। उनका काम केवल एक-दूसरे का विरोध करके सरकार के सामने फ़रियाद करना है। वे ओहदों और रियायतों के लिए एक-दूसरे से चढ़ा-ऊपरी करके जनता पर शासन करने में शासक के सहायक बनने के सिवा और कुछ नहीं करते।

मुसलमान अगर शासकों का दामन पकड़कर कुछ रियायतें पा गया है, तो हिन्दु क्यों न सरकार का दामन पकड़ें और क्यों न मुसलमानों की भाँति सुख़रूरू बन जायें। यही उनकी मनोवृत्ति है। कोई ऐसा काम सोच निकालना जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों एक राष्ट्र का उद्धार कर सकें, उनकी विचार-शक्ति से बाहर है। दोनों ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ मध्यवर्ग के धनिकों, ज़मींदारों, ओहदेदारों और पदलोलुपों की हैं। उनका कार्यक्षेत्र अपने समुदाय के लिए ऐसे अवसर प्राप्त करना है, जिससे वह जनता पर शासन कर सकें, जनता पर आर्थिक और व्यावसायिक प्रभुत्व जमा सकें। साधारण जनता के सुख-दुख से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। अगर सरकार की किसी नीति से जनता को कुछ लाभ होने की आशा है और इन समुदायों को कुछ क्षति पहुँचने का भय है, तो वे तुरन्त उसका विरोध करने को तैयार हो जायेंगे। अगर और ज़्यादा गहराई तक जायें तो हमें इन संस्थाओं में अधिकांश ऐसे सज्जन मिलेंगे जिनका कोई न कोई निजी हित लगा हुआ है। और कुछ न सही तो हुक्काम के बंगलों पर उनकी रसोई ही सरल हो जाती है। एक विचित्र बात है कि इन सज्जनों की अफ़सरों की निगाह में बड़ी इज़्ज़त है, इनकी वे बड़ी ख़ातिर करते हैं।

इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे समझते हैं, ऐसों पर ही उनका प्रभुत्व टिका हुआ है। आपस में ख़ूब लड़े जाओ, ख़ूब एक-दूसरे को नुक़सान पहुँचाये जाओ। उनके पास फ़रियाद लिये जाओ, फिर उन्हें किसका नाम है, वे अमर हैं। मज़ा यह है कि बाज़ों ने यह पाखण्ड फैलाना भी शुरू कर दिया है कि हिन्दू अपने बूते पर स्वराज प्राप्त कर सकते है। इतिहास से उसके उदाहरण भी दिये जाते हैं। इस तरह की ग़लतफ़हमियाँ फैला कर इसके सिवा कि मुसलमानों में और ज़्यादा बदगुमानी फैले और कोई नतीजा नहीं निकल सकता। अगर कोई ज़माना था, तो कोई ऐसा काल भी था, जब हिन्दुओं के ज़माने में मुसलमानों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था, उन ज़मानों को भूल जाइए। वह मुबारक़ दिन होगा, जब हमारे शालाओं में इतिहास उठा दिया जायेगा। यह ज़माना साम्प्रदायिक अभ्युदय का नहीं है। यह आर्थिक युग है और आज वही नीति सफल होगी जिससे जनता अपनी आर्थिक समस्याओं को हल कर सके जिससे यह अन्धविश्वास, यह धर्म के नाम पर किया गया पाखण्ड, यह नीति के नाम पर ग़रीबों को दुहने की कृपा मिटाई जा सके। जनता को आज संस्कृतियों की रक्षा करने का न अवकाश है न ज़रूरत। 'संस्कृति' अमीरों, पेटभरों का बेफ़िक्रों का व्यसन है। दरिद्रों के लिए प्राणरक्षा ही सबसे बड़ी समस्या है।

उस संस्कृति में था ही क्या, जिसकी वे रक्षा करें। जब जनता मूर्छित थी तब उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था। ज्यों-ज्यों उसकी चेतना जागृत होती जाती है, वह देखने लगी है कि यह संस्कृति केवल लुटेरों की संस्कृति थी जो, राजा बनकर, विद्वान बनकर, जगत सेठ बनकर जनता को लूटती थी। उसे आज अपने जीवन की रक्षा की ज़्यादा चिन्ता है, जो संस्कृति की रक्षा से कहीं आवश्यक है। उस पुरान संस्कृति में उसके लिए मोह का कोई कारण नहीं है। और साम्प्रदायिकता उसकी आर्थिक समस्याओं की तरफ़ से आँखें बन्द किये हुए ऐसे कार्यक्रम पर चल रहा है, जिससे उसकी पराधीनता चिरस्थायी बनी रहेगी।

उत्तर कोरिया

(पेज 14 से आगे)

इसकी एक और मिसाल ट्रम्प की ताज़ा अरब यात्रा के बाद उभरी परिस्थिति में भी दिखती है। अमेरिका ईरान को क़ाबू में करने के लिए 41 इस्लामिक देशों का गुट क़ायम करने की स्कीम में है। इस गुट में शामिल होने वालों की जो सूची चौधरी ने जारी की है, उसमें पाकिस्तान की पर्ची भी निकल आयी है। पाकिस्तान न ईरान से बिगाड़ना चाहता है और न ही चीन की नाराज़गी झेल सकता है। पाकिस्तान ने गुट में शामिल होने के बारे में सोचने के लिए अमेरिका से कुछ समय की मोहलत माँगी ली, अमेरिका ने पाकिस्तान की इस प्रार्थना के जवाब में 1.8 करोड़ डॉलर की एक "सहायता" को क़र्ज़े में बदल दिया है। पाकिस्तान का ऊँट किस करवट बैठता है, यह अभी देखना है।

कोरिया का पिछली एक सदी का इतिहास और इसका वर्तमान इस बात की गवाही भरता है कि कैसे अमेरिका छोटे देशों को अपने सैन्य अड्डे बनाकर विरोधियों को घेरने के लिए इस्तेमाल करता है और उनकी आर्थिक लूट करता है। जो देश इसकी इस "परियोजना" में शामिल नहीं होता, उसे "शैतान देश" घोषित करके अलग-थलग करना, व्यापारिक पाबन्दियाँ लगाकर ग़रीबी में धकेलना इसका मुख्य हथियार है। और अगर कोई यह भी झेल जाता है तो सीधा फ़ौजी हमला। सीरिया, इराक़, लीबिया, अफ़ग़ानिस्तान... साम्राज्यवादी चालों का शिकार बनने वालों की फ़ेहरिस्त बहुत लम्बी है।

चीले के महाकवि पाब्लो नेरूदा

के जन्मदिवस (12 जुलाई) के अवसर पर

सड़कों, चौराहों पर मौत और लाशें

(लम्बी कविता के अंश)

अपने उन शहीदों के नाम पर
उन लोगों के लिए
मैं दण्ड की माँग करता हूँ
जिन्होंने हमारी पितृभूमि को
रक्तप्लावित कर दिया है
उन लोगों के लिए
मैं दण्ड की माँग करता हूँ
जिनके निर्देश पर
यह अन्याय, यह ख़ून हुआ
उसके लिए मैं दण्ड की माँग करता हूँ
विश्वासघाती
जो इन शवों पर खड़े होने की हिम्मत रखता है
उसके लिए मेरी माँग है
उसे दण्ड दो, उसे दण्ड दो
जिन लोगों ने हत्यारों को माफ़ कर दिया है
उनके लिए मैं दण्ड की माँग करता हूँ
मैं चारों ओर हाथ मलते
घूमता नहीं रह सकता
मैं उन्हें भूल नहीं सकता
मैं उनके ख़ून से सने हाथों को
छू नहीं सकता
मैं उनके लिए दण्ड चाहता हूँ
मैं नहीं चाहता कि उन्हें यहाँ-वहाँ
राजदूत बनाकर भेज दिया जाये
मैं यह भी नहीं चाहता
कि वे लोग यहीं छुपे रहें
मैं चाहता हूँ
उन पर मुक़दमा चले
यहीं, इस खुले आसमान के नीचे
ठीक यहीं
मैं उन्हें दण्डित होते देखना चाहता हूँ

मैं उन शहीदों से बात करना चाहता हूँ
लगता है वे लोग यहीं हैं
मेरे भाइयो! संघर्ष जारी रहेगा
अपनी लड़ाई हम जारी रखेंगे
कल-कारख़ानों में, खेत-खलिहानों में
गली-गली में यह लड़ाई जारी रहेगी
नमक/शोरा के खदानों में
यह लड़ाई जारी रहेगी
यह लड़ाई जारी रहेगी
वृक्षहीन समतल भूमि पर
ताँबें की भट्टियों में धधक उठेगी
लाल-हरी लपटें
सुबह-सुबह कोयले का काला धुआँ
भरता जा रहा है जिन कोठरियों में
वहीं खींची जायेगी
युद्ध की रेखा
और हमारे हृदयों में
ये झण्डे जो तुम्हारे ख़ून के गवाह हैं
जब तक इनकी संख्या
कई गुना बढ़ नहीं जाती
सिर्फ़ लहराते ही नहीं रहें
और तेज़ी से फड़फड़ाने लगें
अक्षय वसन्त के इन्तज़ार में
लाखों-हज़ार पत्तों की तरह

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस., चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

जीएसटी : कॉरपोरेट पे करम, जनता पे सितम का एक और औज़ार

मुकेश असीम

आखिर केन्द्र-राज्यों में सत्ताधारी सभी पार्टियों ने पूर्ण सहमति से जीएसटी की दरें और नियम तय कर 1 जुलाई से इसे लागू कर दिया। पूँजीपति वर्ग के सभी संगठनों, कारपोरेट नियन्त्रित मीडिया और आर्थिक विशेषज्ञों द्वारा इसे ऐतिहासिक आर्थिक सुधार बताकर इसकी भारी वाहवाही की जा रही है। जीएसटी क़ानून बनाने में एक राय से सहमति जताने वाले कुछ विपक्षी भी सिर्फ़ इस बात की आलोचना कर रहे हैं कि इसे बग़ैर पूरी तैयारी के लागू किया जा रहा है। तो क्या माना जाये कि पूरी तैयारी से लागू होने पर यह जनता के हित में होता? लेकिन इस क़िस्म की आलोचना एक समान हितों वाले वर्ग-रहित समाज में ही की जा सकती है। किन्तु हमारा समाज ऐसा समानता पर आधारित समाज नहीं है। इसमें जहाँ एक ओर 81% सम्पत्ति के मालिक 10% लोग हैं, वहीं ग़रीबी में जीते बहुसंख्यक मज़दूर-किसान और बहुत से छोटे काम-धन्धे करने वाले लोग भी हैं। इस समाज में कोई भी नीति ऐसी नहीं हो सकती जो सब वर्गों के लिए समान हितकारी हो और हर नीति का विश्लेषण इस आधार पर होना चाहिए कि इसका फ़ायदा किस तबक़े को होगा, नुक़सान किस तबक़े को। ऐसे वर्ग विभाजित, ग़ैर-बराबरी और शोषण पर आधारित समाज में प्रत्येक नीति का विभिन्न वर्गों की ज़िन्दगी पर असर समझे बग़ैर की गयी कोई भी चर्चा निरर्थक या गुमराह करने वाली है। इस दृष्टिकोण से इसके कुछ अहम बिन्दुओं की चर्चा ज़रूरी है।

जीएसटी उत्पादन और बिक्री की प्रत्येक अवस्था में जोड़े गये मूल्य पर लगने वाला कर है, जिसे अन्तिम ख़रीदार या उपभोगकर्ता को चुकाना होता है। ऐसे करों को अप्रत्यक्ष कर कहा जाता है, क्योंकि ये कहने के लिए उत्पादक पर लगते हैं लेकिन इन्हें चुकाता उपभोक्ता है। पूँजीवादी जनवाद के दृष्टिकोण से भी देखा जाये तो अप्रत्यक्ष करों के दायरे को बढ़ाना एक प्रतिगामी क़दम है, क्योंकि इनकी दर सभी के लिए 'समान' होने से आमदनी के हिस्से के तौर पर देखें तो जितनी कम आमदनी हो उसका उतना बड़ा हिस्सा कर में देना पड़ता है और जितनी ज़्यादा आमदनी उतना कम हिस्सा। अर्थात इनका बोझ ग़रीब लोगों पर ज़्यादा और अमीर लोगों पर कम होता है। अगर तुलनात्मक रूप से विकसित पूँजीवादी देशों को भी देखें तो वहाँ कुल करों का दो तिहाई प्रत्यक्ष करों और एक तिहाई अप्रत्यक्ष करों से वसूल किया जाता है। भारत में पहले ही ठीक इसका उल्टा है अर्थात दो तिहाई अप्रत्यक्ष करों के ज़रिये आता है और अब इनका दायरा और बढ़ाया जा रहा है। इसके विपरीत ज़्यादा आमदनी पर ज़्यादा लगने वाले प्रत्यक्ष करों - आयकर, कारपोरेट कर, सम्पत्ति कर, विरासत कर, आदि में छूट दी जा रही है या ख़त्म किया जा रहा है। इस तरह जीएसटी के द्वारा अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि से श्रमिकों को प्राप्त मज़दूरी का और बड़ा हिस्सा राज्य द्वारा लगान के रूप में लिया जाकर उनके शोषण को और तीव्र करेगा।

बहुत सारे छोटे व्यवसाय अब तक कर के दायरे से बाहर थे। अब इनमें से बहुत सारे कर के दायरे में आयेंगे। इससे इनकी लागत - कर की रक़म और प्रशासनिक लागत - दोनों तरह से बढ़ेगी। छोटे कारोबारियों की लागत बढ़ने, अन्तरराज्यीय कारोबारियों की लागत और प्रशासनिक बोझ कम होने, एक राज्य से दूसरे में यातायात-सप्लाई की रुकावटें कम होने से छोटे, अनौपचारिक कारोबारों को मिलने वाला स्थानीयता का लाभ समाप्त होगा। बड़े उद्योगों को उत्पादन और भण्डारण दोनों को कम स्थानों पर केन्द्रित कर पाना सम्भव होगा, जिसके चलते वह बड़े पैमाने के उत्पादन को अधिक पूँजी निवेश द्वारा और अधिक मशीनीकृत-स्वचालित कर उत्पादकता को बढ़ा पायेंगे। इस स्थिति में छोटी पूँजी वाले उद्योग और व्यापार बड़ी पूँजी वाले उद्योग-व्यापार के मुक़ाबले प्रतियोगिता में नहीं टिक पायेंगे। इसी तरह बहुत से कारीगर, दस्तकार, बुनकर, पॉवरलूम चलाने वाले स्वयं के धन्धे में लगे या कुछ मज़दूर लगाकर काम करने वाले उद्यमी भी बढ़ती लागत से अब बाज़ार में नहीं टिक पायेंगे और बड़े पूँजीपति के कारोबार में श्रमिक बन जायेंगे। उदाहरण के तौर पर निर्माण उद्योग के बाद श्रमिकों की संख्या की दृष्टि से दूसरे सबसे बड़े टेक्सटाइल उद्योग में स्थिति लघु इकाइयों के सामने संकट अत्यन्त गहरा है। महाराष्ट्र टेक्सटाइल प्रोसेसर एसोसिएशन के सेक्रेटरी ने कहा ही है - '85% लूम्स में बहुत छोटे व्यापारी हैं। जीएसटी डिसेण्ट्रलाइज़ सेक्टर को ख़त्म कर देगा। कम्पोज़िट मिल से हमारा कपडा महँगा हो जायेगा और सिर्फ़ बड़े संगठित प्लेयर को फ़ायदा होगा।' इसीलिए सूरत, भिवण्डी, मुम्बई सब जगह ये उद्यमी अपने लूम्स को बन्द कर हड़ताल, धरना, प्रदर्शन में लगे हैं। इसी तरह छोटे दुकानदारों की क़ीमत पर बड़े मॉल और कारपोरेट स्टोर्स को लाभ होगा तथा छोटे दुकानदार इनमें कर्मचारी बनने के लिए मजबूर होंगे। इससे बडे पूँजीपतियों की इजारेदारी बढ़ेगी। इसीलिए पूँजीपतियों के सारे संगठन और उनका भोंपू मीडिया इसके पक्ष में इतने साल से माहौल बना रहा है।

लेकिन आज भारत में 90% रोज़गार अनौपचारिक, लघु क्षेत्र में है। संगठित क्षेत्र के बड़े उद्योगों को उन्नत आधुनिक तकनीक, श्रमिकों पर अधिक उत्पादकता के दबाव, परिमाण की मितव्ययिता, आदि की वज़ह से उतने ही उत्पादन के लिए कम श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इसलिए इसलिए अनौपचारिक, लघु उद्योगों की क़ीमत पर बड़े उद्योगों की इज़ारेदारी के बढ़ने से रोज़गार के अवसर और भी कम होंगे। साथ ही इन छोटे उद्यमियों के समाप्त होकर श्रमिक बन जाने से बेरोज़गारों की रिज़र्व फ़ौज और बड़ी होगी जिससे पूँजीपति वर्ग अपने मुनाफ़े को बढ़ाने के लिए श्रम शक्ति के मूल्य अर्थात मज़दूरी को और भी कम करने का प्रयास करेगा। इस प्रकार मालिक पूँजीपति और श्रमिक वर्गों के बीच अन्तर्विरोध और संघर्ष और गहन एवं तीव्र होगा।

छोटे, अनौपचारिक उद्योगों पर इस संकट की मार पहले ही नोटबन्दी के द्वारा शुरू हो चुकी है, जिसके बाद के 4 महीनों जनवरी-अप्रैल में सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकोनॉमी के अनुसार 15 लाख नौकरियाँ कम हुई हैं। अब जीएसटी लागू होने के बाद यह प्रक्रिया और तेज़ होगी। लुधियाना, सूरत, भिवण्डी जैसे स्थानों से आने वाली रिपोर्टें पहले ही इसकी पुष्टि कर रही हैं, जहाँ लघु औद्योगिक इकाइयों द्वारा उत्पादन में कमी से श्रमिकों को छँटनी का सामना करना पड़ रहा है, उद्यमी कारीगरों-दस्तकारों के पास माल बनाने के ऑर्डर से उनका काम भी बन्द है और इनके माल के छोटे व्यापारी बिक्री के अभाव में ख़ाली बैठे हैं या जुलूस-धरने में लगे हैं।

जहाँ तक क़ीमतों का सवाल है, अधिक उत्पादों और कारोबारियों को कर दायरे में आने की वजह से बहुत से उत्पादों की क़ीमतें बढ़ना तय है। हालाँकि पहले से कर दायरे में आने वाले औपचारिक, संगठित क्षेत्र के उद्योगों को पिछले टैक्स का क्रेडिट अगले चरण में मिलने की वजह और कुछ उत्पादों पर कर की कम दर से उनके कुछ उत्पादों की क़ीमतें कम होंगी जैसे महँगी कारों या आई फ़ोन की क़ीमतों में कमी आयी है। इससे उच्च और मध्यम वर्ग के उपभोक्ताओं के लिए महँगाई का असर सम्भवतः उतना ज़्यादा नहीं भी हो, पर ग़रीब जनता द्वारा उपभोग की वस्तुओं पर महँगाई निश्चित ही बढ़ेगी, क्योंकि ये अधिकतर अनौपचारिक क्षेत्र के कर दायरे से बाहर के उत्पादों को छोटे दुकानदारों से ख़रीदते रहे हैं, जो अब कर दायरे के अन्दर होंगे।

पहले जीएसटी का एक मुख्य लाभ यह भी बताया गया था कि समान दरों, सरल प्रक्रियाओं से भ्रष्टाचार और कर चोरी कम होगी। लेकिन अब निर्धारित कई दरों, अधिभार, वस्तुओं के जटिल वर्गीकरण और दुरूह प्रक्रियाओं ने इससे चोरी-भ्रष्टाचार कम होने वाली बात की भी हवा पहले ही निकाल दी है। जैसे इंस्टेण्ट कॉफ़ी और रोस्टेड कॉफ़ी अलग दरों में आती हैं, होटल के कमरों पर किराये के आधार पर अलग दरें हैं। यही सब चीज़ें नौकरशाही के लिए सबसे प्रिय होती हैं, क्योंकि यह उन्हें मनमानी तरीक़े से कर निर्धारण और हेराफ़ेरी का मौक़ा देती हैं। पर शायद कुछ और होने की आशा ही ग़लत होती, क्योंकि पहले से मौजूद क़ारोबारी-राजनीति-नौकरशाही गँठजोड़ के इस आधार को ही ख़त्म करने का जोखिम इनमें से कौन लेता!

जीएसटी का एक और पहलू विकास में क्षेत्रीय असन्तुलन है। असन्तुलित, असमतल आर्थिक विकास सामाजिक पैमाने पर अव्यवस्थित पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है। योजनाबद्ध विकास के अभाव वाली पूँजीवादी व्यवस्था की वजह से पहले से ही भारत में भी विभिन्न राज्यों-क्षेत्रों के बीच असमतल विकास और क्षेत्रीय असन्तुलन एक बड़ी समस्या है जिसका प्रभाव राजनीति में जनता के बीच क्षेत्रीय वैमनस्य को पैदा करने के लिए किया जाता रहा है। पहले से ही असमतल क्षेत्रीय विकास की स्थिति में एक समान कर और एक बाज़ार की यह नीति इस इलाक़ाई असन्तुलन को और बढ़ायेगी, जैसे कि 1949 की पूरे देश में हर दूरी के लिए समान रेलवे भाड़ा नीति ने किया था और खनिज सम्पदा वाले राज्य जैसे तबका बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश औद्योगिक विकास में पिछड़ गये क्योंकि वहाँ प्राप्त होने वाले खनिज समान क़ीमत पर दूर-दराज के राज्यों में भी उपलब्ध थे और इस नीति से उन्हें इस खनिज उत्पादन का कोई लाभ नहीं मिला।

कुल मिलाकर देखा जाये तो पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजी के संकेन्द्रण और इजारेदारी को बढ़ाने वाली जीएसटी की नीति से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अन्तर्निहित किसी समस्या का समाधान होने वाला नहीं है। बल्कि यह तात्कालिक रूप से इजारेदार पूँजी के मुनाफ़े को बढ़ाने हेतु टटपुँजिया वर्ग को बरबाद कर उन्हें श्रमिकों की श्रेणी में धकेलने की प्रक्रिया तेज़ करेगी, बेरोज़गारी की फ़ौज की तादाद को बढ़ायेगी, श्रमिकों की माँग और मज़दूरी को नीचे की ओर ले जायेगी। इससे उनकी क्रय शक्ति और कुल बाज़ार माँग कम होगी। इसके नतीजे में कुछ समय बाद बाज़ार में अतिउत्पादन का और भी गहरा संकट पैदा होगा।

हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के कमाण्डर

देश के सच्चे क्रान्तिकारी सपूत

आज भी सच्ची आज़ादी और इंसाफ़ के लिए लड़ रहे हर नौजवान के प्रेरणास्रोत

चन्द्रशेखर आज़ाद

के जन्मदिवस (23 जुलाई) के अवसर पर

शहादत थी हमारी इसलिए
कि आज़ादी का बढ़ता हुआ सफ़ीना
रुके न एक पल को
मगर ये क्या, ये अँधेरा?

ये कारवाँ रुका क्यों है?
बढ़े चलो,
कि अभी काफ़िला-ए-इंक़लाब को
आगे, बहुत आगे जाना है...

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पादकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006